हिन्दी त्रैमासिक

विवेक ज्योति

वर्ष ३० अंक १

हृदय की पवित्रता से ही ईश्वर का दर्शन होता है। – स्वामी विवेकानन्द

...ष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)
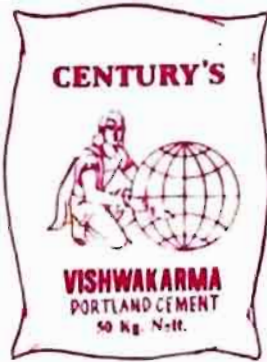
विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित
हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी–फरवरी–मार्च
* १९९२ *

सम्पादक एवं प्रकाशक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सह-सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी त्यागात्मानन्द

वार्षिक १५/-

एक प्रति ४/५०

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) २००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर-४९२ ००१ (म.प्र.)
दूरभाष : २४५८९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(९५वीं तालिका)

३४२५. श्री शिवबहादुर प्रधान, सराय त्रिलोकी, जौनपुर
३४२६. श्री परमानन्द प्रसाद, गंगपुर सिसवन (बिहार)
३४२७. श्री प्रह्लाज कुँभज, सोरर, दुर्ग
३४२८. श्री गौर सिंह दिवान, ठाकुर दियाकला, रायपुर
३४२९. प्राचार्य, शा. हाई स्कूल, नाटिया, बैतूल
३४३०. श्री नरेन्द्रकुमार टाक, अजमेर (राजस्थान)
३४३१. श्री महंत युक्तिरामजी, जोधपुर (राजस्थान)
३४३२. श्री कपिल अरोरा, इन्दौर
३४३३. श्री रामनारायण शुक्ला, बिलासपुर
३४३४. (डा. कु.) मुकुला सेन, चौबे कालोनी, रायपुर
३४३५. श्री एस.ए. पाटील, चंद्रपुर

फार्म ४ रुल ८ के अनुसार

१. प्रकाशन का स्थान —रायपुर
२. प्रकाशन की नियतकालिकता —त्रैमासिक
३-५. मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक —स्वामी सत्यरूपानन्द
राष्ट्रीयता —भारतीय
पता —रामकृष्ण मिशन, रायपुर।
स्वत्वाधिकारी —रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ

स्वामी भूतेशानन्द, स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी गहनानन्द स्वामी आत्मास्थानन्द, स्वामी गीतानन्द, स्वामी प्रभानन्द, स्वामी हिरण्मयानन्द, स्वामी सत्यघनानन्द, स्वामी वन्दनानन्द,, स्वामी तत्त्वबोधानन्द, स्वामी स्मरणानन्द, स्वामी मुमुक्षानन्द, स्वामी वागीशानन्द, स्वामी प्रमेयानन्द, स्वामी भजनानन्द, स्वामी गौतमानन्द, स्वामी शिवमयानन्द।

मैं, स्वामी सत्यरूपानन्द घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर)
स्वामी सत्यरूपानन्द

अनुक्रमणिका

मुद्रक : नईदुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर ४५२ ००९ (म.प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ३०] जनवरी-फरवरी-मार्च ★ १९९२ ★ [अंक १

संन्यास-महिमा

तुँगं वेश्म सुताः सतामभिमताः संख्यातिगाः संपदः,
कल्याणी दयिता वयश्च नवमित्यज्ञानमूढो जनः।
मत्वा विश्वमनश्वरं निविशते संसारकारागृहे,
संदृश्य क्षणभंगुरं तदखिलं धन्यस्तु संन्यस्यति ।।

अज्ञान से विमूढ़ मानव यह सोचकर कि मेरा मकान भव्य है, पुत्र सज्जनों द्वारा प्रसंशित हैं, असीम सम्पदा है, अनुकूल पत्नी है, युवावस्था है और जगत् चिरस्थायी है, इस संसाररूपी कारागार में निवास करता है; परन्तु धन्य है वह, जो इन्हें क्षणभंगुर देखकर सबकुछ त्याग देता है।

—भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतकम्' २०

अग्नि-मंत्र

(श्री आलासिंगा पेरूमल को लिखित)

संयुक्त राज्य अमेरिका
२९ सितम्बर, १८९४

प्रिय आलासिंगा,

तुमने जो समाचार-पत्र भेजे थे, वे ठीक समय पर पहुँच गये और इस बीच तुमने भी अमेरिका के समाचार पत्रों में प्रकाशित समाचारों का कुछ कुछ हाल पाया होगा। अब सब ठीक हो गया है। कलकत्ते से हमेशा पत्र-व्यवहार करते रहना। मेरे बच्चे, अब तक तुमने साहस दिखाकर अपने को गौरवान्वित किया है। जी.जी. ने भी बहुत ही अद्भुत और सुन्दर काम किया है। मेरे साहसी निःस्वार्थी बच्चो, तुम सभी ने बड़े सुन्दर काम किये। तुम्हारी याद करते हुए मुझे बड़े गौरव का अनुभव हो रहा है। भारतवर्ष तुम्हारे लिए गौरवान्वित हो रहा है। मासिक पत्रिका निकालने का जो संकल्प था, उसे न छोड़ना। खेतड़ी के राजा तथा लिमड़ी काठियावाड़ के ठाकुर साहब को मेरे कार्य के बारे में सदा समाचार देते रहने का बन्दोबस्त करना। मैं मद्रास अभिनन्दन का संक्षिप्त उत्तर लिख रहा हूँ। यदि सस्ता हो तो यहीं से छपवाकर भेज दूंगा, नहीं तो टाइप करवा कर भेजूंगा। भरोसा रखो, निराश मत होना। इतने सुन्दर ढंग से काम होने पर भी यदि तुम निराश हो, तो तुम महामूर्ख हो। हमारे कार्य का प्रारम्भ जैसा सुन्दर हुआ, वैसा और किसी काम का होता दिखायी नहीं देता। हमारा कार्य जितना शीघ्र भारत में और भारत के

बाहर फैल गया है, वैसा भारत के और किसी आन्दोलन को नसीब नहीं हुआ है।

भारत के बाहर कोई सुनियंत्रित कार्य चलाना या सभा-समिति बनाना मैं नहीं चाहता। वैसा करने की कुछ उपयोगिता मुझे दिखायी नहीं देती। भारत ही हमारा कार्य क्षेत्र है और विदेशों में हमारे कार्य का महत्त्व केवल इतना है कि इससे भारत जाग्रत हो जाय, बस। अमेरिकावाली घटनाओं ने हमें काम करने का अधिकार और सुयोग दिया है। हमें अपने विस्तार के लिए एक दृढ़ आधार की आवश्यकता है। मद्रास और कलकत्ता—अब ये दो केन्द्र बने हैं। बहुत जल्दी भारत में और भी सैकड़ों केन्द्र बनेंगे।

यदि हो सके तो समाचार-पत्र और मासिक पत्रिका दोनों ही निकालो। मेरे जो भाई चारों तरफ घूम-फिर रहे हैं, वे ग्राहक बनायेंगे—मैं भी बहुत ग्राहक बनाऊँगा और बीच बीच में कुछ रुपया भेजूँगा। पल भर के लिए भी विचलित न होना सब कुछ ठीक हो जायगा। इच्छा-शक्ति ही जगत को चलाती है।

मेरे बच्चे, हमारे युवक ईसाई बन रहे हैं इसलिए खेद न करना। यह हमारे ही दोष से हो रहा है। हमारे समाज में, विशेषकर मद्रास में आजकल जिस प्रकार के सामाजिक बन्धन हैं, उन्हें देखते हुए बेचारे बिना ईसाई हुए और कर ही क्या सकते हैं? विकास के लिए पहले स्वाधीनता चाहिए। तुम्हारे पूर्वजों ने आत्मा को पूरी स्वाधीनता दी थी, इसीलिए धर्म का उत्तरोत्तर विकास हुआ; परन्तु देह को उन्होंने सैकड़ों बन्धनों में डाल दिया, बस, इसी से समाज का विकास

रुक गया। पाश्चात्य देशों का हाल ठीक इसके विपरीत है। समाज में बहुत स्वाधीनता है, धर्म में बिल्कुल नहीं। इसके फलस्वरूप वहाँ धर्म बड़ा ही अधूरा रह गया, परन्तु समाज ने भारी उन्नति कर ली है। अब प्राच्य समाज और उधर पाश्चात्य धर्म के पैरों की जंजीरें धीरे धीरे खुलती जा रही हैं।

प्राच्य और पाश्चात्य के आदर्श अलग अलग हैं। भारतवर्ष धर्मप्रवण या अन्तर्मुख है और पाश्चात्य वैज्ञानिक या बहिर्मुख। पाश्चात्य देश जरा सी भी आध्यात्मिकता सामाजिक उन्नति के माध्यम से ही पाना चाहते हैं; परन्तु प्राच्य देश थोड़ी सी भी सामाजिक शक्ति की उपलब्धि धर्म के द्वारा ही करना चाहते हैं। इसीलिए आधुनिक सुधारकों को पहले भारत के धर्म का नाश किये बिना सुधार का और कोई दूसरा उपाय ही नहीं सूझता। उन्होंने प्रयत्न किया और असफल रहे। इसका क्या कारण था? यह कि उनमें से बहुत ही कम लोगों ने अपने धर्म का अच्छी तरह अध्ययन-मनन किया और उनमें से एक ने भी उस साधना का अभ्यास नहीं किया, जो इस 'सब धर्मों की जननी' को समझने के लिए आवश्यक था! मेरा यही दावा है कि हिन्दू समाज की उन्नति के लिए हिन्दू समाज के विनाश की कोई आवश्यकता नहीं और ऐसी बात नहीं कि समाज की वर्तमान दशा हिन्दू धर्म की प्राचीन रीति-नीतियों और आचार-अनुष्ठानों के समर्थन के कारण हुई, वरन् ऐसा इसलिए हुआ कि धार्मिक तत्त्वों का सभी सामाजिक विषयों में भलीभाँति उपयोग नहीं किया गया। मैं इस कथन का प्रत्येक शब्द अपने प्राचीन शास्त्रों से

प्रमाणित करने को तैयार हूँ। मैं यही शिक्षा दे रहा हूँ और हमें इसी को कार्यरूप में परिणत करने के लिए जीवन भर चेष्टा करनी होगी। पर इसका अध्ययन करने में समय लगेगा——काफी समय लगेगा। धीरज रखो और काम करते चलो। **उद्धरेदात्मनात्मानम्**— अपने ही द्वारा अपना उद्धार करना होगा।'

मैं तुम्हारे अभिनन्दन का उत्तर देने में लगा हुआ हूँ। इसे छपवाने की कोशिश करना। यदि वह सम्भव न हो सका, तो थोड़ा थोड़ा करके 'इण्डियन मिरर' तथा अन्य पत्रों में छपवाना।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

पु०——वर्तमान हिन्दू समाज केवल उन्नत आध्यात्मिक विचारवालों के लिए ही गठित है, बाकी सभी को वह निर्दयता से पीस डालता है। ऐसा क्यों? जो लोग सांसारिक तुच्छ वस्तुओं का थोड़ा-बहुत भोग करना चाहते हैं, आखिर वे कहाँ जायें? जैसे हमारा धर्म सबको ग्रहण कर लेता है, वैसा ही हमारे समाज को भी होना चाहिए। इसका उपाय यह है कि पहले हमें अपने धर्म का यथार्थ तत्त्व समझना होगा और फिर उसे सामाजिक विषयों में लगाना पड़ेगा। यह कार्य बहुत ही धीरे धीरे, परन्तु निश्चित रूप से करना होगा।

वि.

❋

योगः कर्मसु कौशलम्

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के 'चिन्तन' कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर विचारोत्तेजक तथा उद्‌बोधक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं और काफी लोकप्रिय हुए हैं। पाठकों के अनुरोध पर हम उन्हें क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं। प्रस्तुत लेख 'आकाशवाणी' रायपुर के सौजन्य से गृहीत हुआ है।–स.)

गीता में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः संसिद्धि लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धि यथा विन्दति तत् श्रुणु॥
यतः प्रवृत्तिः भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः॥१८।४५-४६

अर्थात् "अपने अपने कर्मों में लगे रहकर मनुष्य संसिद्धि को पा लेता है। कैसे पा लेता है? यह तू मुझसे सुन। जिस परमात्मा से समस्त चराचर जगत उत्पन्न हुआ है और जिससे यह सारा जगत व्याप्त है, उसकी अपने कर्मों द्वारा पूजा करते हुए मनुष्य सिद्धि को पा लेता है।"

बड़ी अद्‌भुत बात कह दी श्रीकृष्ण ने। कर्मों से पूजा करने को वे कहते हैं। हमने धूप, चन्दन, फल-फूल आदि से ईश्वर की पूजा करने की बात सुनी थी, पर यहाँ हम एक नयी बात सुनते हैं—अपने कर्मों से भगवान की पूजा करनी चाहिए।

यह कर्मों द्वारा पूजा किस प्रकार होती है? इसका क्या तात्पर्य है? यही कि कर्म किये जाओ पर उसके फल को भगवत्-समर्पित कर दो। इससे कर्मों में स्वाभाविक रूप से रहने वाले दोष कर्त्ता को व्याप नहीं पाते।

पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि चोर चोरी करे और पापमुक्त होने के लिए सोचे कि मैं इसका फलाफल ईश्वर को समर्पित करता हूँ, दुराचारी व्यक्ति दुष्कर्म करे और ईश्वर-समर्पण की आड़ ले ले। नहीं, गीता का तात्पर्य यह नहीं है। वह अवश्य मनुष्य को कर्मों का फलाफल ईश्वर के चरणों में सौंप देने के लिए कहती है पर साथ ही यह भी बता देती है कि कर्म के अन्य रूप भी होते हैं, जिनसे हमें बचकर चलना पड़ता है—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ।।४।१६-१७

कृष्ण कहते हैं, "अर्जुन, कर्म क्या है, अकर्म क्या है, इस सम्बन्ध में तत्वज्ञ मुनि भी कुछ ठीक से नहीं कह पाते, इसलिए मैं तेरे सामने कर्म की चर्चा करूँगा, जिसके तत्व को जानकर तू अशुभ से तर जाएगा। हे पार्थ, कर्म क्या है यह जान लेना चाहिए। विकर्म और अकर्म किसे कहते हैं, यह भी समझ लेना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति बड़ी गहन है।"

सचमुच कर्म का रहस्य दुर्बोध सा मालूम पड़ता है कृष्ण कर्म के तीन रूप बताते हैं—पहला कर्म, दूसरा विकर्म और तीसरा अकर्म। विकर्म विपरीत कर्म को कहते हैं —ऐसे कर्म जो शास्त्र निषिद्ध हैं, जिनको समाज बुरी निगाह से देखता है। अकर्म जड़ता या आलस्य को कहते हैं। कर्म करते समय हमें उसके इन दो रूपों से बचना पड़ता है और जीवन के कर्तव्य-कर्मों

को करते हुए उनका फलाफल भगवान पर छोड़ देना होता है। यही योग है।

कहा गया है--योगः कर्मसु कौशलम्। अर्थात कर्म की कुशलता ही योग है। कई लोग इसकी बड़ी विचित्र व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं कि यदि मनुष्य अपना काम बड़ी कुशलता से कर ले तो वह योगी कहलाने के लायक है। तब तो तात्पर्य यह हुआ कि यदि सुनार बड़ी कुशलता से अपना कार्य करता हो, तो वह योगी है, दुकानदार बड़ी कुशलता से अपनी दुकान का काम करता हो, तो वह योगी है। और इसी प्रकार एक पाकेट-मार बड़ी कुशलता से अपना काम कर लेता हो, तो वह भी योगी बन गया। पर क्या हम कभी ऐसे तर्क को स्वीकार कर सकते हैं? नहीं। तब फिर कर्म की कुशलता का क्या मतलब हुआ?

श्रीरामकृष्ण एक उदाहरण देते हैं--शहद का एक छत्ता है। उसमें से हम शहद निकालना चाहते हैं। हमें कुशल कब कहा जाएगा? तब, जब हम शहद इस प्रकार निकालें कि हमें मधुमक्खियाँ न काट खायें। इसी प्रकार, कर्म की कुशलता तब होती है, जब कर्म तो किए जाएँ, पर कर्म का बन्धन कर्ता पर न लग सके। 'योगः कर्मसु कौशलम्' का यही अर्थ है।

O

मानस रोग (१६/१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'श्रीरामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर कुल ४६ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके सोलहवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों को लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। स.)

मन के रोगों का जो स्वरूप है, उसे रामचरितमानस में आयुर्वेद की पद्धति के अनुसार शरीर के रोगों से तुलना करते हुए प्रस्तुत किया गया है। आयुर्वेद की मान्यता है कि शरीर में त्रिधातु विद्यमान हैं। ये त्रिधातु हैं—-वात, पित्त और कफ। जब तक मनुष्य के शरीर में ये त्रिधातु सन्तुलित रहते हैं, तब तक व्यक्ति स्वस्थ रहता है; और जब इनमें असन्तुलन उत्पन्न होता है, तब व्यक्ति अस्वस्थ हो जाता है। ठीक इसी सूत्र के आधार पर मानस रोगों का विश्लेषण करते हुए राम-चरितमानस में कहा गया कि मन में भी त्रिधातु अर्थात् वात, पित्त और कफ विद्यमान हैं, जिन्हें काम, क्रोध और लोभ कहते हैं। जब तक व्यक्ति के मन में ये तीनों सन्तुलित रहते हैं, तब तक व्यक्ति स्वस्थ रहता है; पर जैसे ही इनमें असन्तुलन उत्पन्न होता है, वैसे ही व्यक्ति का मन अस्वस्थ हो जाता है और इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति के जीवन में अशान्ति और दुःख का उदय हो जाता है। वैसे तो काम, क्रोध और लोभ में से किसी एक के असन्तुलित होने पर भी, व्यक्ति मानसिक रोगों से ग्रस्त हो जाता है। पर जब कभी ये तीनों एक साथ असन्तुलित हो जाते हैं, तब इसे आयुर्वेद की भाषा में

सन्निपात कहा जाता है। पिछले प्रवचनों में इस मानसिक सन्निपात की चर्चा हो चुकी है।

सन्निपात का वर्णन करने के बाद कागभुशुण्डिजी ने कहा कि मन की जितने भी प्रकार की लालसाएँ हैं, वे सभी किसी न किसी प्रकार के शूल (पीड़ा) की सृष्टि करती हैं और इन असंख्य कामनाओं की तरह ही मन के रोग भी असंख्य हैं। लेकिन उनमें से कुछ मुख्य रोग जिनके बारे में कहा, सुना और समझा जा सकता है, उन्हें प्रस्तुत किया गया है। अब वे जिसका वर्णन करने जा रहे हैं, वह बड़ा विचित्र रोग है। यह रोग बहुधा हमें रोग ही प्रतीत नहीं होता, पर आध्यात्मिक जीवन में इसे काफी महत्त्व दिया गया है और उसे कहते हैं, 'ममता'। ममता का वर्णन करते हुए, उसकी तुलना शरीर के रोगों में 'दाद' से की गयी। ममता मन का दाद है। जब किसी व्यक्ति को ज्वर हो जाता है, तो व्यक्ति स्वयं अपने आपको अस्वस्थ अनुभव करता है और दूसरे भी उसे देखकर जान लेते हैं। सन्निपात होने पर तो अस्वस्थता की और भी तीव्र अनुभूति होती है, जो रोगी से अधिक दूसरों को दिखाई देती है। पर यह दाद ऐसा विचित्र रोग है कि जिसके होने पर कोई यह नहीं समझता कि वह रोगी है। कभी उसको लगता ही नहीं कि यह भी कोई कष्ट देनेवाला रोग है। जैसे अन्य रोगों में स्वस्थ होने की चेष्टा दिखाई देती है, वैसी इसमें दिखाई नहीं देती। गोस्वामीजी ने ममता की तुलना जो दाद से की है, इसका कारण बड़ा मनोवैज्ञानिक है। काम, क्रोध, लोभ की विकृति होने पर व्यक्ति जब अस्वस्थ होता है, तो उसे इसका स्पष्ट बोध रहता

है, परन्तु यह बड़ी विचित्र बात है कि अपनी इस ममता की ओर व्यक्ति का ध्यान बहुधा जाता ही नहीं। वह सोच भी नहीं पाता कि मेरे मन में ममता नाम का कोई रोग है। ममता की इस विचित्रता पर गोस्वामीजी एक बड़ा ही सुन्दर व्यंग्यात्मक संकेत देते हैं कि अन्य रोग तो केवल दुःख ही दुःख देते हैं, पर यही एक ऐसा रोग है, जिसमें दुःख एवं सुख दोनों की अनुभूति होती है। दाद में खुजलाहट होती है। उसे खुजलाकर आदमी बड़े सुख का अनुभव करता है और बाद में जलन होने पर कष्ट का अनुभव भी करता है। ये दोनों बातें ममता के साथ भी जुड़ी हुई है। एक तो वह रोग होते हुए भी रोग प्रतीत नहीं होता और सुख एवं दुःख दोनों की सृष्टि करता है। वास्तव में हम देखते हैं कि कभी-कभी मनुष्य इस ममता को लेकर स्वयं को अत्यन्त सुखी अनुभव करता है। ममता का अर्थ है—ममत्व, मेरापन, वह वस्तु मेरी है, इस व्यक्ति से मेरा सम्बन्ध है, वह मेरा है, इत्यादि। इस मेरेपन के कारण व्यक्ति के हृदय में जिस लगाव का अनुभव होता है उसी का नाम ममता है। जिनसे हमें ममता होती है, उन्हें जब हम उन्नति करते देखते हैं, तो हमें बड़ी प्रसन्नता होती है। यही एक प्रकार की अनुभूति हो ऐसा नहीं है। यह भी होता है कि जिनसे हमारी ममता हो, यदि वे हमारी इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य करते हैं या हमारी भावनाओं का ध्यान नहीं रखते तो हमारे हृदय में बड़ी पीड़ा होती है। ममता की इस वृत्ति को रामचरित-मानस के विभिन्न प्रसंगों में विविध रूपों में प्रस्तुत किया गया है।

यहाँ पर गोस्वामीजी एक सूत्र देते हैं। इस प्रसंग में तो उन्होंने ममता को मन का दद्रु कहा, पर अन्यत्र एक दूसरे प्रसंग में ममता की तुलना धागे से की—

जननी जनक बंधु सुत दारा ।
तनु धनु भवन सुहृद परिवारा ।।
सब कै ममता ताग बटोरी ।
.... बाँध बर डोरी ।।५।४८।४-५

—— 'माता, पिता, भाई, पुत्र, पत्नी, शरीर, धन, गृह, मित्र और सम्बन्धी—इन सबके प्रेमरूपी धागों को एकत्र कर डोरी बना ले ।" यहाँ पर ममता को धागा कहा गया । धागा बन्धन का हेतु है । लेकिन एक तीसरे प्रसंग में तो बड़ी मनोवैज्ञानिक बात कही गई है । क्या ?

ममता तरुन तमी अँधिआरी ।५।४७।३

——ममता अँधेरी रात है। अमावस्या की गहरी अँधेरी रात में कुछ भी दिखाई नहीं देता । पर ममता के लिए इस उपमा की क्या सार्थकता है? ऐसा तो नहीं लगता कि ममता होने पर दिखाई न देता हो। तब गोस्वामीजी व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि यह कब कहा कि अँधेरी रात में दिखाई नहीं देता । पर हाँ, सबको दिखाई नहीं देता । जिसे दिखाई देता है, वह उल्लू को छोड़ और कौन होगा ? किसी के मन में ममता हो और वह यदि कहे कि मुझे दिखाई दे रहा है तो समझ लेना कि वह कौन है ? जैसे सामान्यतः देखने के लिए व्यक्ति की दो आँखें होती है, उसी तरह ममता की अँधेरी रात में देखने वाले ये उल्लू भी दो हैं। ये दो उल्लू कौन हैं ?

राग द्वेष उलूक सुखकारी ।।५।४७।३

——ममता घनी अँधेरी रात है, राग-द्वेष रूपी दो उल्लुओं को सुख देनेवाली है। जिसके अन्तःकरण में ममता हो और वह समझता हो कि मैं देख रहा हूं, तो वह अवश्य ही या तो राग की दृष्टि से देख रहा होगा या द्वेष की दृष्टि से । वस्तुतः उसका देखना सर्वथा दोषरहित नहीं है। इसलिए जो वस्तु जैसी है उसे वह उसी रूप में न देखकर, अन्य रूपों में देखता है।

रामचरितमानस के विभिन्न प्रसंगों में ममता की विभिन्न रूपों में व्याख्या की गई है। गोस्वामीजी ज्ञान भक्ति और कर्म——तीनों के सन्दर्भ में ममता का स्वरूप स्पष्ट करते हुए इसकी बड़ी मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हैं। ज्ञानी के जीवन में तो ममता सर्वथा त्याज्य है ही, भक्त के जीवन में भी ममता ईश्वर-समर्पित हो जाती है और कर्मयोगी को भी अपने जीवन में इसे धीरे-धीरे समेटना चाहिए । इस तरह ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों के सन्दर्भ में ममता की चर्चा की गई है और उसकी विविध वृत्तियों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया गया है। रामायण में एक ऐसा प्रसंग है, जिसे लोग बड़े आनन्द से पढ़ते या सुनते हैं । परन्तु जिस सन्दर्भ में उसे पढ़ा या सुना जाता है, वही उसका भाव नहीं है। वह एक बड़ा ही रोचक प्रसंग है । विशेषकर जब कहीं रामलीला चल रही हो तो उसमें अन्य लीलाएं तो कुछ ही घण्टों में समाप्त हो जाती है, पर जब लक्ष्मण-परशुराम संवाद प्रारम्भ होता है, तो वह रात-भर चलता रहता है । रामायण में जितना है, उससे भी बहुत आगे बढ़कर वह संवाद होता है और

दर्शक तथा श्रोता इस संवाद में बड़ा आनन्द लेते हैं। लेकिन उनके आनन्द लेने की वृत्ति जिस स्तर की है और उसे जिस स्तर पर प्रस्तुत किया जाता है, उसे बहुत अच्छा नहीं कहा जा सकता। इसीलिए एक सन्त ने अपने आश्रम में चल रही रामलीला में लक्ष्मण-परशुराम संवाद के दिन उमड़ी भीड़ को देखकर प्रसन्न होने के स्थान पर दुःख प्रकट करते हुए कहा कि इससे पता चलता है कि रामलीला में भी लोग झगड़ा देखना ही पसन्द करते हैं। शान्ति की बातें पसन्द नहीं करते। जिसमें समत्व हो, शान्ति हो, भक्ति हो, वैराग्य हो; उसमें उतना रस नहीं आता, जितना कि तू-तू मैं-मैं में आता है। साधारण दृष्टि से देखें तो लक्ष्मण-परशुराम संवाद का प्रसंग तू-तू मैं-मैं का प्रसंग प्रतीत होता है। और उसमें व्यक्ति को ऐसा कुछ सन्तोष मिलता है कि चलो रामायण में भी कुछ ऐसे पात्र हैं, जो हम लोगों की तरह तू-तू मैं-मैं करते हैं। और इससे हृदय में ऐसी वृत्ति आती है कि इतने महान पात्र भी जब ऐसा कर सकते हैं, तो हम भी ऐसा करके कोई गलत काम नहीं करते। इसको अलग-अलग देखनेवाले अलग-अलग रूपों में देखते हैं। तुलसीदासजी के सन्दर्भ में तो यह बात बार-बार कही जाती है कि वे बड़े घोर ब्राह्मणवादी थे। उन्होंने ब्राह्मणों का बड़ा पक्ष लिया है। पर इससे यह न समझ लीजिएगा कि ब्राह्मण उनसे बड़े सन्तुष्ट हैं। ब्राह्मणों ने मुझसे उलाहना देते हुए कहा कि तुलसीदासजी ने एक ब्राह्मण परशुराम की ऐसी दुर्दशा करा दी कि लगता है, उन्हें ब्राह्मणों के प्रति जरा भी सहानुभूति नहीं है। लोग जातिवाद से अत्यन्त पीड़ित हो गये हैं और

आज के सन्दर्भ में एक बड़ी विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गई है। राजनीति या विविध कारणों से लोगों में इतनी असन्तोष की वृत्ति आ गई है कि वे रामचरित-मानस के विविध प्रसंगों को भी जब देखते हैं तो बहुत ही हल्के स्तर पर उन्हें देखने और चर्चा करने लग जाते हैं।

वस्तुतः लक्ष्मण-परशुराम संवाद की विशेषता यह है कि बाहर से चाहे जितना विनोद-भरा दिखाई दे, पर भीतर से वह उतना ही गम्भीर है। ज्ञान, भक्ति और कर्म के सन्दर्भ में यह प्रसंग अत्यन्त गूढ़ तत्त्वों से भरा हुआ है। यहाँ पर तो इस प्रसंग को एक विशेष सन्दर्भ में लिया गया है, फिर भी सूत्र रूप में कुछ बातें रखी जा रही हैं। अगर ज्ञान की दृष्टि से देखें तो परशुरामजी का यह प्रसंग स्वरूप-विस्मृति का प्रसंग है। वेदान्त की मान्यता यह है कि सारा दुःख अपने आप को न जानने के कारण है। गोस्वामीजी इस सूत्र की व्याख्या करते हुए विनयपत्रिका में कहते हैं कि जैसे कोई व्यक्ति प्यासा हो और पानी के अभाव में मर जाय तो यह स्वाभाविक लगता है। परन्तु किसी व्यक्ति के निकट ही यदि ठण्डे जल से भरा घड़ा रखा हो और नींद में सोया हुआ व्यक्ति स्वप्न में देख रहा हो कि वह कहीं मरुस्थल में प्यास से तड़प रहा है, गला सूख रहा है, प्राण निकल रहे हैं; तो ऐसे व्यक्ति को न तो मरुस्थल से निकालने की आवश्यकता है और न उसके लिए पानी ले जाने की। उसे तो केवल जगा भर देने की आवश्यकता है। वेदान्त की मान्यता यह है कि व्यक्ति के अत्यन्त निकट जो आनन्द का केन्द्र है, सुख का केन्द्र है, उसे न जानने के कारण ही वह दुखी है। अगर वह केन्द्र न

होता और व्यक्ति उसके अभाव में दुखी होता, तब तो लगता कि सचमुच इसके जीवन में सुख का अभाव है। पर अन्तर में सुख का कोष होते हुए भी वह दुखी है, इसका अभिप्राय क्या है ? वह अभाव के कारण दुखी नहीं, बल्कि अज्ञान के कारण दुखी है। इसे ही गोस्वामीजी विनय-पत्रिका में कहते हैं कि जो अभावजन्य दुःख है, वह तो वस्तु से दूर होगा, पर अज्ञानजन्य दुख वस्तु से नहीं, जानने से ही दूर होगा। सपने में किसी व्यक्ति ने किसी का सिर काट लिया। अब उसका यह दुःख कैसे दूर होगा ? उस व्यक्ति के सिर को जोड़ने के लिए किसी शल्य चिकित्सक की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है तो केवल उसे जगा देने की। गोस्वामीजी दृष्टान्त देते हैं कि व्यक्ति पलग पर सोया हुआ स्वप्न देख रहा था कि वह समुद्र में डूब रहा है और जोर जोर से चिल्ला रहा है, 'मैं डूब रहा हूं, बचाओ, बचाओ।' सुनकर एक सज्जन कमरे से भागे। किसी ने पूछा, 'कहाँ जा रहे हो ?' उन्होंने कहा, 'नाव लाने।' कितनी नावें ? एक दो नहीं, करोड़ों नावें लाकर भी आप उसके पलंग के चारों ओर लगा दोगे तो भी क्या लाभ ?

सुभग सेज सोवत सपने, बारिधि बूड़त भय लागै।
कोटिहुँ नाव न पार पाव सो, जब लगि आपु न जागै ।।

—"सुन्दर सेज पर सोया हुआ व्यक्ति स्वप्न में अपने को डूबता हुआ देखकर डरे, तो उसे करोड़ों नावों के द्वारा भी नहीं बचाया जा सकता।" उसे बचाने का तो एक ही उपाय है कि आप उसे जगा दें। यही वेदान्त की मान्यता है कि सारा दुःख अज्ञानजन्य है, अभावजन्य नहीं।

यहाँ परशुरामजी के प्रसंग में भी वेदान्त की दृष्टि से बड़ी सांकेतिक बात कही गई है। राम को ही नहीं पहचान पा रहे हैं? परशुरामजी द्वारा न पहचान पाने का तात्पर्य क्या है? श्री राम भी ईश्वर के अवतार हैं और परशुरामजी भी। वैसे विचार करके देखें तो वेदान्त की दृष्टि से प्रत्येक जीव, ईश्वर का ही अंश है।

ईश्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुख रासी ॥७।११७।२

—जीव ईश्वर का अंश है, अतः उसमें ईश्वर के लक्षण भी विद्यमान हैं और जीव के भी। जीव अपूर्ण है और वह अपूर्णता क्या है? अज्ञान! जीव की अपूर्णता अभावजन्य नहीं, अज्ञानजन्य है। परशुरामजी की समस्या क्या है? वे अशान्त क्यों हैं, दुखी क्यों हैं? विवाद क्यों करते हैं? —अज्ञान के कारण और उनकी सारी समस्याओं का समाधान कब हुआ? "जाना राम प्रभाव तब—" जान लेने पर। परशुरामजी ने श्री राम को पहचान लिया। उनका क्रोध शान्त हो गया और ग्लानि दूर हो गई। गोस्वामीजी ने अपनी शैली में लिखा—

बार बार मुनि बिप्रवर,
कहा राम सन राम।१/२८२

—'राम से राम बोले' यह कहकर गोस्वामीजी यहाँ यह बताना चाहते हैं कि यह प्रकाश और अन्धकार के बीच की बात नहीं है, यह प्रकाश और प्रकाश के बीच की बात है। झगड़ा समाप्त हो गया। न कोई युद्ध हुआ और न शस्त्र चले। केवल जान लेने से ही सारा झगड़ा समाप्त हो गया। बस—

जाना राम प्रभाउ तब, पुलक प्रफुल्लित गात ।
जोरि पानि बोले बचन, हृदयँ न प्रेमु अमात ।।१/२८४

--तब उन्होंने श्री राम का प्रभाव जाना और उनका शरीर पुलकित और प्रफुल्लित हो गया । इतना प्रेम उमड़ आया कि उनके हृदय में समा ही नहीं रहा था । अब वे राम के स्वरूप को पहचान गये थे, उनकी परिपूर्णता को जान गये थे । दोनों के बीच जो दूरी थी, वह मिट गयी । इस तरह राम और राम में जो विरोध दिखाई दे रहा था वह समाप्त हो गया । अभिप्राय यह है कि जब तक स्वरूप की विस्मृति है, तभी तक टकराहट है । जब स्वरूप की स्मृति हो जाती है, स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तब जैसे कोई स्वयं से नहीं लड़ता, उसी प्रकार राम से राम का न लड़ना ही स्वाभाविक है । उनमें परस्पर युद्ध न होना बिल्कुल स्वाभाविक है । यह तो हुआ ज्ञान के सन्दर्भ में, पर भक्ति के सन्दर्भ में हम इस पर विशेष रूप से चर्चा करेंगे, क्योंकि इस दृष्टिकोण से परशुरामजी के चरित्र से हमें काफी प्रेरणा मिल सकती है ।

परशुरामजी ने ब्रह्मचर्य के द्वारा काम को जीत लिया था और दान के द्वारा लोभ को जीत लिया था । वे महान तपस्वी, महान शास्त्रवेत्ता, महान पितृभक्त और सद्गुणों के पुँज थे । पर इतना सब होते हुए भी परशुरामजी के जीवन में शान्ति क्यों नहीं थी ? जो लोग दुष्कर्म करके दुखी हैं, उनकी बात तो समझ में आती है कि पाप करने पर व्यक्ति दु:ख पा रहा है, लेकिन अगर किसी को सत्कर्म करते हुए भी शान्ति नहीं मिल रही है, तो इसका मतलब क्या है ? परशुरामजी के जीवन में तो सत्कर्मों की पराकाष्ठा दीख पड़ती है । उन्होंने कोई छोटा-मोटा दान

नहीं, पूरी पृथ्वी का दान किया था। उनका ब्रह्मचर्य भी साधारण नहीं था, वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे। पर इतना होते हुए भी परशुराम जी को शान्ति नहीं मिली। इस महान प्रसंग की उपलब्धि यह है कि परशुरामजी को अन्ततः शान्ति मिल जाती है। उनके जीवन से हमें शान्ति का मार्ग दिखाई देता है। उनके जीवन में अशान्ति का मूल कारण क्या था? यदि हम इस पर विचार करके देखें तो वहाँ हमें दो ही ऐसे कारण दिखाई देंगे जो परशुरामजी को दुखी और अशान्त बनाये हुए हैं। हम चाहे जितना भी सत्कर्म क्यों न करें पर जब तक ये दोनों हमारे जीवन में विद्यमान रहेंगे, तब तक हमें शान्ति नहीं मिल सकती। परशुरामजी के अन्तःकरण में ये दो भाई हैं, जो उन्हें दुखी और अशान्त बनाए हुए हैं और उनके सामने दो भाई खड़े हैं, जो उन्हें सुख और शान्ति प्रदान करने वाले हैं। भीतर दो भाई हैं अहंता एवं ममता और सामने खड़े हैं श्री राम तथा लक्ष्मण। अहंता का समाधान हैं श्री राम और ममता का श्री लक्ष्मण। ये अहंता और ममता अर्थात् मैं और मेरापन—एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। वेदान्त के इस सूत्र को रामायण में भी कहा गया है—

कबिहि अगम जिमि ब्रह्मसुखु
अह मम मलिन जनेषु ।।२/२२५

—कवि के लिए यह ब्रह्मसुख उसी तरह से अगम है, जैसे अहं और मम से मलिन अन्तःकरण के लिए सुख। जब तक यह अहंता और ममता नहीं मिट जाती, तब तक जीवन में सुख और शान्ति नहीं आ सकती। यही अहंता और ममता ही परशुरामजी की समस्या है। भगवान राम और लक्ष्मण से परशुरामजी के संवाद का क्या तात्पर्य है?

वस्तुत: यह दो समस्याओं और दो समाधानों के बीच संवाद है। परशुरामजी की अहंता को दूर किया श्री राम ने और ममता को दूर किया लक्ष्मणजी ने और यह बड़ी स्वाभाविक प्रक्रिया है। भगवान राम हैं ज्ञानघन और अहंकार होता है अज्ञान से। लक्ष्मण जी हैं वैराग्यमूर्ति और ममता होती है आसक्ति से। मनुष्य के जीवन में जब अहंकार की वृत्ति आती है तब वह अपने को बहुत बड़ा समझने लगता है। कई बार तो हम अहंकार की वृत्ति यह सोचकर स्वीकार कर लेते हैं कि इससे हम बड़े हो जाएँगे। परन्तु अहंकार के द्वारा व्यक्ति बड़ा नहीं, सिमट कर छोटा हो जाता है। क्यों? अहं के लिए वह अपने आपको किसी-न-किसी सीमा में आबद्ध कर लेता है। चाहे वह देश की हो या जाति की या धर्म की, वह एक सीमा में सिमट जाता है। एक व्यक्ति जब ऐसा गर्व पाल लेता है कि मैं धनवान हूँ, तो वह अपने को छोटा बना लेता है। बड़ा बनने की चेष्टा में वह छोटा बन गया। दोनों राम खड़े हैं। दोनों में क्या अन्तर दिखाई दे रहा है? परशुराम जी भगवान राम से कहते हैं कि तुम मुझसे युद्ध करो और भगवान राम उनसे विनम्रतापूर्वक पूछते हैं कि यदि मैं आपसे युद्ध न करना चाहूँ तो क्या कोई और विकल्प नहीं है? उन्होंने कहा—एक विकल्प है। क्या?

करु परितोषु मोर संग्रामा।
नाहिं त छाड़ कहाउब रामा ।।१/२८१।२

—विकल्प यह है कि यह जो तुम्हारा नाम 'राम' रखा गया है, इसे तुम छोड़ दो। आज से राम कहलाना बन्द कर दो। राम केवल मैं रहूँगा, दूसरा कोई नहीं रहेगा। इन दोनों रामों में क्या अन्तर है? राम और

परशुराम में अन्तर यह है कि श्री राम जब राक्षसों को मारते हैं, तो उन्हें भी राम बना देते हैं। जो सारे संसार को राम बना दे वह पूर्ण है और जो यह कहे कि मुझे छोड़ कर कोई दूसरा राम न रहने पाये, वह अपूर्ण है। श्री राम सबको यहाँ तक कि रावण कुम्भकर्ण को भी राम बना देते हैं। लोग आश्चर्य से देखते हैं कि श्री राम खर, दूषण, त्रिसिरा पर बाण तो चला रहे हैं पर यह सारी चेष्टा किसलिए हो रही है ? वह तो जैसे छेनी-हथौड़ी लेकर कोई मूर्तिकार पत्थर पर प्रहार कर रहा हो। देखने वालों को लगेगा कि शिल्पी बड़ा निर्दयी है, लेकिन अन्त में हम देखते हैं कि उसने एक अत्यन्त सुन्दर मूर्ति का निर्माण कर दिया है और तब लगता है कि बिना छेनी-हथौड़ी का प्रयोग किए पत्थर से इतनी सुन्दर आकृति नहीं निकल सकती थी। भगवान तो वस्तुतः बाण के द्वारा मूर्ति गढ़ते हैं। उनका यह कार्य प्रारम्भ में तो लगता है कि प्रहार कर रहे हैं, पर अन्त में क्या दिखाई देता है ? जब कुम्भकर्ण भगवान राम के सामने आ खड़ा होता है तो देवताओं को लगता है कि बस अब इस दुष्ट का वध हुआ ही समझो, परन्तु अगले ही क्षण जो दृश्य दिखाई दिया, उससे वे चौंक पड़े। क्या देखा उन्होंने ? जैसे ही कुम्भकर्ण का सिर कटा, गोस्वामीजी कहते हैं—

तासु तेज प्रभु बदन समाना।६।७१/८

—उसका तेज निकलकर भगवाम श्री राम के मुँह में समा गया। देवताओं ने चकित होकर देखा कि अब तो कुम्भकर्ण भी राम बन गया। राम में मिलकर राम हो गया। कुम्भकर्ण ही नहीं, रावण भी राम में समाकर राम हो गया और इतना ही नहीं बल्कि गोस्वामीजी तो यह

भी लिखते हैं कि जब कुम्भकर्ण भगवान के मुख में समाने लगा, भगवान में मिलकर एक होने लगा तब—

तासु तेज प्रभु बदन समाना ।
सुर मुनि सबहि अचंभव माना ।।६।७१।८

—देवताओं और मुनियों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि हम लोग महान साधना के द्वारा जिस एकत्व पर विचार करते हैं, उस एकत्व की यहाँ प्रत्यक्ष अनुभूति हो रही है। अभिप्राय यह है कि जहाँ पर अभिमान समाप्त हो जाता है वहाँ पर समत्व की – कि सब राम हैं—यही वृत्ति रह जाती है । क्योंकि अभिमान के लिए दो चाहिए और दो में भी एक छोटा और एक बड़ा । अभिमान बराबरी में नहीं होता । यही परशुराम जी की वृत्ति है । उनको दो दिखाई दे रहा है और दो में भी उनकी इच्छा यह हो रही है कि हमारी बराबरी का कोई अन्य न रहे । दूसरा रहे भी तो, कोई अन्य नाम रख ले, बहुत नाम हैं । राम मैं अकेला रहूँगा, तुम राम कहलाना बन्द करो । यह अहं उनकी एक समस्या है, जो सत्कर्म से घटा नहीं बल्कि बढ़ा है । उन्होंने अपने आपको एक सीमा में संकुचित कर लिया है। एक ओर तो पुराण कहते हैं कि परशुराम भगवान के अवतार हैं और दूसरी ओर यह प्रश्न उठता है कि क्या भगवान की कोई जाति होती है ?

(शेष अगले अंक में)

卐

श्रीरामकृष्ण चालीसा

डॉ. केदारनाथ लाभ, डी.लिट

सम्पादक, 'विवेक-शिखा' मासिक, रामकृष्ण निलयम,
जयप्रकाश नगर, छपरा-८४१३०१ (बिहार)

ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय

दोहा

श्रीगुरु पद-अम्बुज परसि, सिर धरि धूरि पराग ।
रामकृष्ण यश चिर धवल, बरनउँ अति अनुराग ।।
ज्ञान ध्यान नहिं योग बल, कर्म धर्म नहिं एक ।
रामकृष्ण मों दीन को, दीजै विमल विवेक ।।

चौपाई

जय श्रीरामकृष्ण भगवाना ।
करुणामय जय कृपा निधाना ।।१।।
खुदीराम के तनय दुलारे ।
चन्द्रामणि माँ के दृग-तारे ।।२।।
गया गमन कीन्हें तव ताता ।
सपने विष्णु कहीं यह बाता ।।३।।
तुम्हरे गेह लेब अवतारा ।
धरम गलानि हरब संसारा ।।४।।
विष्णु सत्व गुण लै तनु धारे ।
खुदीराम के गेह पधारे ।।५।।
मन्दिर मँह शिव ज्योति सुभाई ।
चन्द्रामणि के उदर समाई ।।६।।
शिव प्रकटे धरि रूप गदाई ।
धन्य हुई चन्द्रामणि माई ।।७।।
जनम लेत नव रूप दिखाये ।
सकल देह निज भसम रमाये ।।८।।

बक पाँती लखि नभ घन माँही ।
सहज समाधि लग्यो पल माँही ।।९।।
शिव लीला करि तुम शिव भयऊ ।
देखि सकल चित विस्मित भयऊ ।।१०।।
जब यज्ञोपवीत क्षण भयऊ ।
धनी कमारिन पहँ तुम गयऊ ।।११।।
प्रथम भीख लै बाल गुसाईं ।
भिक्षा माँ की दियौ बड़ाई ।।१२।।
सत्य संधु प्रभु तुम करुणाकर ।
तज्यो जाति कुल मान भयंकर ।।१३।।
शिशु लीला करि दीन दयाला ।
गयो दक्षिणेश्वरहि कृपाला ।।१४।।
भवतारिणी पूजि बहु भाँती ।
दरस हेतु बिलखेउ दिन राती ।।१५।।
निज बलि देन खड्ग लै धायो ।
प्रकटी माँ, दरसन-सुख पायो ।।१६।।
सारदेश्वरी की गहि पाणी ।
भयउ युगल जनु शम्भु-भवानी ।।१७।।
कंचन काम तोहि नहिं व्यापा ।
शुद्ध बुद्ध अकलुष निष्पापा ।।१८।।
ज्ञान भक्ति अरु कर्म अशेषा ।
प्रकट भये धरि तुम्हरे वेषा ।।१९।।
जहँ तुम्ह रहेउ बहेउ रस धारा ।
अमित हर्ष आनन्द अपारा ।।२०।।
बहु देवन्ह तुम्हरे पहिं आयो ।
दर्शन दै तुम्ह माँहि समायो ।।२१।।

राम कृष्ण प्रकटे तव माँहीं ।
कलियुग महँ तुम सम कोउ नाहीं ।।२२।।
तुम्ह पहँ आइ नरेन अधीरा ।
भयउ असंशय निर्भय धीरा ।।२३।।

सद्धर्मिणि पद धरि जप माला ।
सौंप्यो तप-फल सकल कृपाला ।।२४।।
सकल सिद्धि नरेन्द्र पर वारी ।
आपु अकिंचन भयो भिखारी ।।२५।।

केसर बरन सुकोमल गाता ।
सस्मित मुख आनन्द विधाता ।।२६।।
समाधिस्थ पद्मासन धारे ।
अर्ध मुदित दृग परम सुखारे ।।२७।।

पद्म पलास युगल तव नयना ।
परम मधुर सुर मोहक बयना ।।२८।।
तुम ही भक्ति भक्त भगवन्ता ।
अज अनादि अनवद्य अनन्ता ।।२९।।

जीव माँहि शिव दियो दिखाई ।
सकल शक्ति तुम्ह महँ प्रकटाई ।।३०।।
सर्व धर्म को दियो प्रतिष्ठा ।
जय जय जय अवतार वरिष्ठा ।।३१।।

गहि तव शरण गिरीश अपावन ।
भयउ अकाम अमल-चित पावन ।।३२।।
लाटू गँवइ पाइ तव नेहा ।
भये सिद्ध ब्रह्मज्ञ विदेहा ।।३३।।

तारक सरत आदि कत प्राणी ।
तुम्हरे कृपा भयो विज्ञानी ।।३४।।

करि तव भजन नरेन्द्र सुजाना ।
विश्व विजय कीन्हीं जग जाना ॥३५॥
को जग तव करि सकहिं बड़ाई ।
वेदहुँ सकइ न तव गुण गाई ॥३६॥
जो श्रद्धा सों तव गुण गावै ।
मुक्त होइ चारहुँ फल पावै ॥३७॥
तव जप ध्यान नित्य जे करई ।
माँ सारदा तासु दुःख हरई ॥३८॥
पढ़ै जो रामकृष्ण चालीसा ।
तासु कलेश हरहि जगदीशा ॥३९॥
मो पर नाथ करहुँ निज दाया ।
हरहुँ विकार मोह मद माया ॥४०॥

दोहा

रामकृष्ण माँ सारदा, सहित विवेकानन्द ।
बसहुँ सदा मम हृदय महुँ, देहुँ परम आनन्द ॥

सारदावर रामकृष्ण की जय !
जननी सारदामणि की जय !!
स्वामीजी महाराज की जय !!!

श्री शारदा वन्दन

दोहा

माता श्यामासुन्दरी, रामचन्द्र पितु गेह ।
जगदम्बा भवतारिणी, उतरीं ले नव देह ॥१॥
पौष कृष्ण शुभ सप्तमी, दिन पुनीत गुरुवार ।
हुआ सारदा का परम करुणामय अवतार ॥२॥

छन्द

जयरामबाटी पुण्य-घाटी सहज सुकृति सहोदरा
चिर मनोभावन भूमि पावन शस्य श्यामल उर्वरा ।
मंगल-विधात्री शान्ति-दात्री लोक-शोक-तिमिर-हरा
अवतरीं माता दिव्यगाता विमल बुद्धि ऋतम्भरा ।।

दोहा

गूँज उठी शत शंखध्वनि, गूँजे सुललित गान ।
नत वन्दन करने लगे, सुर-मुनि वेद-पुराण ।।३।।

चौपाई

जय जय माँ सारदा सुनीता ।
विश्व-वन्दिता परम पुनीता ।।

जय श्यामासुन्दरी किशोरी ।
रामचन्द्र-दुहिता अति भोरी ।।

जय जय भुवन विमोहिनि माता ।
जय, शुचि रुचि मुख मंगल दाता ।।

जय करुणा-वरुणा कल्याणी ।
जय संतति-वत्सला अमानी ।।

तुम ही उमा जानकी राधा ।
त्याग याग तप प्रीति अगाधा ।।

तुम ही ज्ञान कर्म की भाषा ।
अचल भक्ति की तुम परिभाषा ।।

पावन तन मन जीवन गंगा ।
निर्मल छवि रवि-रश्मि अभंगा ।।

रामकृष्ण गत प्राण तुम्हारे ।
रोम-रोम तन्नाम उचारे ।।

सोरठा

हरने को भू-भार, तुम आयी संसार में ।
लीला परम अपार, कौन तुम्हारी गा सके ।।४।।

छन्द

अक्षय सुहागिनि ! चिर विरागिनि !
हे अमर वरदायिनी ।
माँ सारदेश्वरि ! हे शुभेश्वरि !
भक्ति दो अनपायिनी ।।
कर दो विमल मन अमल जीवन
देवि यह वर दो मुझे ।
अपनी शरण में अंत क्षण में
अभय कर धर लो मझे ।।

दोहा.

तारक शरत् नरेन्द्र शशि, लाटू हरि राखाल ।
स्नेह-सुधा तव पान कर, सब हो गये निहाल ।।५।।
माँ दो निज पद पद्म में, नित अखंड विश्वास ।
कटें बंध-भव उर-तिमिर, मिटे ताप-त्रय-त्रास ।।६।।

○

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

सैंतीसवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बंगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा, 'श्रीश्रीरामकृष्ण-कथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशन किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।–स.)

दसवें परिच्छेद के प्रारम्भ में श्री 'म' ने अपने अन्तःकरण के भाव सबके समक्ष प्रगट करते हुए एक सुन्दर चित्र अंकित किया है। श्रीरामकृष्ण नरेन्द्र को अपने पास बैठाकर एकदृष्टि से उन्हें देख रहे हैं। एकाएक वे उनके पास और सरककर बैठे। नरेन्द्र अवतार नहीं मानते तो इससे क्या ? श्रीरामकृष्ण का प्यार मानो और उमड़ पड़ा। नरेन्द्र की देह पर हाथ फेरते हुए कह रहे हैं, "(राधे) तुमने मान किया तो क्या हुआ, हम लोग भी तुम्हारे मान में तुम्हारे साथ ही हैं।" भाव यह कि नरेन्द्र के अवतार न मानने का कारण यह है कि वे उनकी आँखों के सामने उसे प्रकाशित नहीं कर रहे हैं, इसीलिए वे मानो अभिमानवश अवतार नहीं मानते। ठाकुर कहते हैं, "हम लोग भी तुम्हारे मान में तुम्हारे साथ ही हैं।"

विचार और तत्त्वानुभूति

ठाकुर नरेन्द्र से कहते हैं, "जब तक विचार है, तब तक वे नहीं मिलते। तुम लोग विचार कर रहे थे, मुझे

अच्छा नहीं लग रहा था।" पर कभी-कभी वे विचार करने के लिये उन्साहित करते, किसी के आपत्ति करने पर कहते, इस विचार का भी एक अर्थ है। लेकिन यहाँ पर कह रहे हैं कि विचार से वे नहीं मिलते। इसका अभिप्राय यह है कि विचार भी एक रास्ता है, पर यह अन्तिम नहीं है। विचार का एक लक्षण यह है कि विचार के द्वारा क्रमशः तत्त्व का निर्णय होता है। गीता में भगवान कहते हैं--जो विचारशील है, उसके अन्तःकरण में मैं वाद स्वरूप हूँ---'वादः प्रवदतामहम्'। तत्त्वनिर्णय के लिए जो विचार होता है, उसे वाद कहते हैं। तत्त्वनिर्णय के उपाय के रूप में विचार ग्रहण करने योग्य है, किन्तु विचार चलते रहने का अर्थ है कि तत्त्वनिर्णय अभी हुआ नहीं है। "जहाँ न्यौता रहता है, वहाँ शब्द तभी तक सुन पड़ता है जब तक लोग भोजन के लिए बैठते नहीं। तरकारी और पूड़ियाँ आयीं नहीं कि बारह आने गुलगपाड़ा घट जाता है। (सब हँसते हैं) दूसरी चीज ज्यों-ज्यों आती हैं, त्यों-त्यों आवाज घटती जाती है। दही आया कि बस सपासप आवाज रह गयी। फिर भोजन हो जाने पर निद्रा।" ठाकुर कहते हैं, "जितना ही ईश्वर की ओर बढ़ोगे, विचार उतना ही घटता जाएगा। उन्हें पा लेने पर फिर शब्द या विचार नहीं रह जाते। तब रह जाती है निद्रा---समाधि।" ठाकुर ने उन्हें प्रत्यक्ष देखा है, तब और क्या विचार करेंगे? जब हम यह सब घर-परिवार प्रत्यक्ष देखते हैं, तब क्या विचार करते बैठते हैं कि यह घर परिवार है या नहीं? यह अनुभूति इतनी तीव्र और गम्भीर होती है कि उसके सामने संशय टिकता नहीं। उसी तरह जब ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है,

तब वह दर्शन इतना तीव्र और गम्भीर होता है कि वहाँ कोई संशय उठता ही नहीं । इसीलिए कहते हैं कि ईश्वर को जितना अधिक पाओगे, विचार उतना ही कम होगा । भगवदानुभूति की ओर अग्रसर होते रहने पर विचार, द्वन्द्व, संशय आदि क्रमश: कम होते जाते हैं । ठाकुर कहते थे, "खाली घड़े से आवाज निकलती है और भर जाने पर नहीं निकलती ।" भगवदानुभूति से पूर्ण हो जाने पर मनुष्य के हृदय में चर्चा, विचार आदि के लिए स्थान ही नहीं रह जाता । ऐसो बात नहीं है कि ठाकुर ने कभी किसी को विचार करने के लिए न कहा हो । कई बार वे स्वयं किन्हीं दो विभिन्न मतावलम्बियों को विचार में लगा देते । नरेन्द्र के साथ गिरीश अथवा केदार को बहस में लगाकर आनन्द लेते । आनन्द इसलिए लेते कि दोनों विचारशील भक्त हैं, केवल दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हैं । नरेन्द्र मानो अर्धनास्तिक हैं और ये लोग अति विश्वासी । इनके बीच प्रबल मतभेद था । ठाकुर मध्यस्थ होकर सुनते और कभी एक पक्ष की ओर से तो कभी दूसरे पक्ष की ओर से टिप्पणी करते, किसी को छोड़ते नहीं थे ।

स्मरण रखना होगा कि ठाकुर पढ़े-लिखे नहीं थे । तर्कशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि कुछ भी अध्ययन नहीं किया था । स्वामीजी ने यह सब पढ़ा था और उनकी बुद्धि अत्यंत कुशाग्र थी । फिर भी ठाकुर बीच-बीच में यह दिखा देते हैं कि जिन विषयों को वे जानते नहीं, केवल सुना है, उनमें भी उनके मत अत्यन्त विचारशील मन के परिचायक हैं ।

ठाकुर की सर्वप्रसारो दृष्टि

एक सज्जन एक मत के सम्बन्ध में बोले—"महाराज यह भी एक मत है ।" ठाकुर ने पूछा, "वे लोग ईश्वर को

मानते हैं या नहीं ?" ईश्वर को मानते हैं यह सुनते ही बोले, "बस तो फिर ठीक है।" अथवा वे लोग यदि आध्यात्मिक जीवन को मानते हैं, तो ठीक है। उनका मतवाद चाहे जो हो पर उनका गन्तव्य-स्थल क्या है ? ठाकुर की यह विशाल सर्वग्राही उदारता किसी को बाहर नहीं छोड़ती, चाहे वह नास्तिक ही क्यों न हो। यदि कोई कहे कि अमुक व्यक्ति नशेड़ी या दुष्ट प्रकृति का है, उसे प्रश्रय न दें। तो ठाकुर केवल उसकी वर्तमान अवस्था को न देखकर उसके अतीत, वर्तमान, भविष्य सब पर दृष्टि रखकर विचार करते थे। मास्टर महाशय से कहते, "तुम्हारा अतीत, वर्तमान, भविष्य—सब तो जानता हूँ !" मास्टर महाशय ने नतमस्तक होकर स्वीकार किया। ठाकुर कहते हैं, "मैं जो कह रहा हूँ, उस पर विश्वास करो, उसे विचार करके लेने की आवश्यकता नहीं।"

और नरेन्द्र से कहते हैं—"जो कहूँगा, उसे जाँच-परखकर लेना।" अधिकारी भेद से यह भिन्न-भिन्न पथ्य है। जैसे माँ जिस बच्चे के पेट में जो सहन होता है, उसके लिए वही बनाती है। ठाकुर भी ठीक वैसे ही करते हैं, जिसकी जैसी रुचि देखी, उसके लिए वैसी ही व्यवस्था की।

जो युगावतार होकर जगत के कल्याणार्थ आये हैं उनका कुछ मुट्ठी भर लोगों के लिए सोचने से तो काम नहीं चलेगा। संसार के सभी लोगों के लिए ऐसा रास्ता बता देना होगा जिससे कोई भी बाकी न रह जाय। कोई भूखा न रह जाय। केवल खाने को मिले सो नहीं, भरपेट मिले। एक भक्त बोले, "महाशय, और जगह तो बूँद भर और

यहाँ पेट भर।" यह अवतार का वैशिष्ट्य है। सबके कल्याण के लिए इस तरह खाना परोसते हैं कि जिससे सभी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भोजन पाकर, पुष्ट और बलवान हों, परम कल्याण प्राप्त करें।

ठाकुर की बाह्य जगत विस्मृति के सन्दर्भ में मास्टर महाशय और भी थोड़ी चर्चा करते हैं। शुद्धसत्त्व बालकों के प्रति उनका असीम प्रेम था। विशेषकर नरेन्द्र के लिए वे पागल रहते थे। ठाकुर नरेन्द्र की देह पर हाथ फेरते हुए स्नेह कर रहे हैं और कहते हैं, "हरि ॐ, हरि ॐ, हरि ॐ।"

ठाकुर का उच्चभाव और सहानुभूति

एक दिन नरेन्द्र ठाकुर से कहते हैं, "आप हमेशा इस तरह 'नरेन, नरेन' करते रहते हैं. अन्त में आपकी भी राजा भरत जैसी दशा होगी।" हरिण का चिन्तन करते-करते राजा भरत हरिण हो गये थे। यह सुनकर ठाकुर सीधे अपनी माँ के पास दौड़ गये। लौटकर बोले, "माँ ने बता दिया है कि मैं तेरे भीतर साक्षात् नारायण को देख पाता हूँ, इसीलिए ऐसा करता हूँ। बालकों के भीतर नारायण को देखता हूँ, इसलिए इतना प्यार करता हूँ। जिस दिन ऐसा नहीं देख पाऊँगा, उस दिन से तुम लोगों का मुँह भी नहीं देखूँगा।" यह स्नेह व्यक्ति के प्रति नहीं, बल्कि उसके अन्तर का जो तत्त्व उनके सम्मुख अभिव्यक्त होता, उसके प्रति हुआ करता था।

मास्टर महाशय लिखते हैं, "जिस नरेन को लेकर ठाकुर आनन्दविभोर हो जाते हैं, इतना प्रेम दर्शाते हैं, देखते ही समाधिस्थ हो जाते हैं; पर जब मन प्राण ईश्वर में लीन हो जाता है, तो उसी नरेन की कोई खोज-खबर

नहीं लेते । लेकिन जब तक मन बाह्य जगत में है, तब तक वह क्या लेकर रहेगा । शुद्ध आधार, शुद्धसत्त्व भक्तों का आधार लेकर रहता है । ठाकुर का मन सदा उस अन्तर्यामी तत्त्व की ओर ही आकृष्ट रहता और इसीलिए उसका यत्किंचित प्रकाश इन शुद्धसत्त्व बालकों के भीतर से व्यक्त होते देख, उन्हीं के सहारे वे मन को इस जगत् में थोड़ा बहुत रख पाते हैं । नहीं तो फिर उनका मन संसार की ओर उतरना ही नहीं चाहता । ये बालक ही उनके मन को उतारने के उपाय या सीढ़ी थे । और तब वे संसार के दु:ख-कष्टों का अनुभव करते हैं और उन दुखों से पार जाने का रास्ता दिखाते हैं ।

ऐसा लग सकता है कि ठाकुर का मन जब इतना सम्वेदनशील था, तो क्या केवल संसार का दु:ख-कष्ट ही उनके मन को उतारने का उपाय नहीं हो सकता था ? मन समाधि में चले जाने पर संसार के दु:ख-कष्ट की अनुभूति वहाँ नहीं पहुँचती, तब मन किसी शुद्ध आधार के सहारे ही क्रमश: नीचे उतरता है। इन शुद्धसत्त्व बालकों को वे इसीलिए अपने पास रखते कि इनके माध्यम से मन जगत् की ओर आकृष्ट होगा । नहीं तो फिर उनके शरीर की रक्षा भी नहीं हो पाती । कह रहे हैं, देखो, मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है, एक-दो शुद्धसत्त्व बालक पास रहते तो अच्छा रहता ।" सेवा के लिए नहीं, बल्कि मन को उतारने के लिए एक अवलम्बन के रूप में बालकों की आवश्यकता है । वह अवलम्बन ऐसा होना चाहिए कि जिसके साथ उनके मन का कोई सम्बन्ध हो––इसीलिए शुद्ध सत्त्व बालकों की आवश्यकता है । जिनके मन संसार की मलिनता के स्पर्श में न आये हों, किसी प्रकार की कालिमा

में लिप्त न हुए हों, ऐसे शुद्ध-पवित्र मनवाले बालकों के प्रति आकर्षण के द्वारा ठाकुर अपने मन को समाधि से थोड़े नीचे के स्तर पर उतार कर रख सकते थे । इसके पश्चात् मन के बाह्य दशा में आने पर, वे संसार के दुःख-कष्ट इतनी तीव्रता के साथ अनुभव करते कि उसकी गहराई हमारे लिए कल्पनातीत है। वह सम्वेदनशीलता इतनी सर्वव्यापी हो जाती कि प्रत्येक प्राणी का दुःख वे अपने हृदय में अनुभव करते । सर्वत्र अपना विस्तार कर सभी के दुखों को महसूस करना अवतार को छोड़ और किसी के लिए सम्भव नहीं है। अन्यान्य लोगों के मन में बहुत हुआ तो जरा सी सहानुभूति आती है, परन्तु अवतार एकात्म होकर दूसरों के दुःख अपने हृदय में अनुभव करते हैं । इस एकात्मता का बोध सामान्य लोगों में नहीं होता । स्वामीजी कहते थे, "इस विराट् विश्व के दुखों को अनुभव करने के लिए ही ठाकुर की भक्ति करता हूं।" गिरीश बाबू भी स्वामीजी के बारे में उनके एक शिष्य से कहते हैं, "तुम्हारे गुरु को मैं इसलिए मानता हूँ कि उनका हृदय बड़ा विशाल है।" अब जो हृदय ठाकुर को इतना आकृष्ट कर रहा है, आप कल्पना कर सकते हैं कि वह कितना विशाल, शुद्ध, पवित्र और दूसरों के दुखों के प्रति कितना सहानुभूतिपूर्ण होगा ! और अब यदि ठाकुर की ओर देखें, इसके दूसरे पक्ष पर दृष्टि डालें तो देखेंगे कि ठाकुर अपने दुलारे नरेन्द्र को फटकारते हैं, "तेरी इतनी हीन बुद्धि । अपने ही समाधि-सुख में डूबे रहना चाहता है ? संसार के इतने लोगों के दुःख-कष्ट नहीं देखता ? मैं तो चाहता हूँ कि तू इनका सहारा बने।"

जिस नरेन को ठाकुर ने इतना प्रेम किया, इतनी साधना करायी, नर-ऋषि का अवतार कहा, उसी नरेन के प्रति जब वे इतना कठोर वाक्य कहते हैं, तो इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि ठाकुर का हृदय कितना विशाल रहा होगा !

श्री 'म' का चिन्तन

पूर्व प्रसंग में ठाकुर की बातों से श्री 'म' के मन में जिन विचारों का उदय हुआ था, दशम परिच्छेद में उन्होंने उन्हीं को बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है । वे कहते हैं— विचार अब और क्या करूँगा ? विश्वास चाहिए । वे सोच रहे हैं—"ईश्वर क्या सचमुच ही मनुष्य-देह धारण करके आते हैं ? क्या अवतार सचमुच होते हैं ? अनन्त ईश्वर इस साढ़े तीन हाथ के शरीर में कैसे समा सकते हैं ? विचार तो बहुत हुआ, पर समझ में क्या आया ? विचार के द्वारा कुछ भी समझ नहीं सका !"

विचार दो पूर्णत: विपरीत भावों का सामंजस्य नहीं कर सकता । अनन्त कैसे सान्त हो सकेगा ? ईश्वर की असीमता और मानवीय दृष्टि की क्षुद्रता दो अत्यन्त विपरीत चीजें हैं । भागवत में देवकी स्तुति करते हुए कहती हैं—

विश्वं वदेतत् स्वतनौ निशान्ते
यथावकाशं पुरुष: परो भवान् ।
बिभर्ति सोऽयं मम गर्भगोऽभू-
दहो नृलोकस्य विडम्बनं हि तत् ।।१०।३।=१।

—"जिनकी विशालता की हम कल्पना भी नहीं कर सकते, जो समस्त वस्तुओं की आपसी दूरी बनाये रखकर, विश्व-ब्रह्माण्ड को अपने देह के एक कोने में धारण कर

सकते हैं, वे ही प्रभु अब मेरे गर्भ में सन्तान के रूप में आये हैं, इस बात पर कौन विश्वास करेगा ?" देवकी की इस अपूर्व उक्ति के बारे में ही इस समय मास्टर महाशय विचार कर रहे हैं। वे दर्शनशास्त्र के ज्ञाता हैं, पर उस दृष्टि से विचार करके भी कुछ समझ नहीं सके। "अनन्त क्या सान्त हो सकता है ?" ठाकुर कहते हैं, "जब तक विचार है, तब तक वस्तुलाभ नहीं होता।" क्या इस छटाक भर बुद्धि के द्वारा हम ईश्वर को समझ सकेंगे ? "एक सेर की कटोरी में क्या चार सेर दूध समाएगा ?" यही सब बातें वे सोच रहे हैं। हमारी इस सीमित बुद्धि के द्वारा क्या ईश्वर के स्वरूप को समझा जा सकता है ? ठाकुर यदि दिखा दें, यदि सहसा उजाला हो जाए, तो क्षण भर में ही समझा जा सकता है। ईश्वर की अलौकिक कृपा से ही यह प्रकाश सहसा जल कर दिखा देता है। जो वाक्य-मन से अतीत है, उसका मन के द्वारा चिन्तन करना या शब्दों में व्यक्त करना सम्भव नहीं है। अतः इस व्यर्थ प्रयास को छोड़कर हम शरणापन्न होते हैं; प्रारम्भ में यह समझ नहीं पाते कि प्रयास करना व्यर्थ है, बाद में जब समझने की चेष्टा करते हैं, विचार करते हैं, तब पाते हैं कि एक व्यक्ति का विचार दूसरे के विचार से खण्डित हो जाता है।

विचार और शास्त्र-सिद्धान्त

सर्व शास्त्रों के अगाध पण्डित और विलक्षण कुशाग्र बुद्धि से सम्पन्न शंकराचार्य ने भी कहा है कि तर्क के द्वारा कभी सत्य की स्थापना नहीं होती। यह बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है। व्याख्या करते हुए वे कहते हैं — मान लो मैं एक बड़ा पण्डित हूँ, खूब युक्ति करके एक व्यक्ति के मत का खण्डन कर अपने मत को स्थापित करता हूँ; तो भविष्य

में और एक पण्डित आकर उसका खण्डन करते हुए अन्य मत की प्रतिष्ठा करेगा। अनन्त काल से इसी प्रकार चला आ रहा है और चलता रहेगा। अतः तर्क के द्वारा सिद्धान्त की प्रतिष्ठा सम्भव नहीं। तो फिर क्या उपाय करें ? उत्तर में उन्होंने कहा—शास्त्र प्रमाण अर्थात् शास्त्र में लिपिबद्ध विद्वज्जनों के अनुभव पर निर्भर करना। जिन्होंने तत्त्व का साक्षात्कार किया है, उनका अनुभव ही प्रमाण है, जिसके सहारे तत्त्व का निर्णय किया जा सकता है। लेकिन उसमें भी एक समस्या है। शास्त्र के सिद्धान्तों को लेकर भी काफी तर्कजाल है और मतभेद भी बहुत है। सभी लोगों द्वारा वेद को मान लेने पर भी उसकी व्याख्या को लेकर आपस में तरह-तरह का मतभेद हुआ, जो आज तक चल रहा है। भविष्य में तो और भी मतों का जन्म होने से यह विरोध बढ़ेगा।

ईश्वर-कृपा और शरणागति

ठाकुर एक वाक्य में कहते हैं, "ऐसे नहीं होगा। वे यदि सहसा उजाला करके दिखा दें, तत्त्व को हमारे लिए अनुभवगम्य बनाकर अपने स्वरूप का उद्घाटन कर हमारे सामने रख दें, तभी जानना सम्भव है, अन्यथा नहीं। यह ठाकुर की बड़ी महत्त्वपूर्ण उक्ति है। संशयशून्य भाव से उस तत्त्व को जानने का और कोई उपाय नहीं है। मूल बात है, "एक सेर के लोटे में क्या पाँच सेर दूध अँटता है ?" क्षुद्र मन के द्वारा क्या अनन्त की धारणा सम्भव है ? शास्त्र तथा सन्तों के बार-बार बताने पर भी हम इस बात को समझते नहीं। अहंकारवश सोचते हैं कि हम सब समझ लेंगे। कौन समझेगा ? मैं समझूँगा। किसकी सहायता से ? बुद्धि की सहायता से। पहली बात तो यह

है कि जिस बुद्धि की सहायता से समझूँगा वह क्या राग-द्वेष से मुक्त हुई है ? नहीं तो, मन में यदि किसी एक वस्तु के प्रति आग्रह रहा तो अन्य कुछ भी बोधगम्य नहीं होगा। दूसरी बात यह कि जो वाक्य-मन से अतीत है, उसे वाक्य-मन के भीतर सीमित करके अनुभव या व्यक्त नहीं किया जा सकता। ठाकुर कहते हैं—कृपा को छोड़ और कोई रास्ता नहीं। कृपा किसके ऊपर होगी ? वे किस पर कृपा करेंगे ? यहाँ पर हमारा एक मात्र कर्तव्य है, उनकी कृपा प्राप्त करने के लिए यथासाध्य प्रयास करना। हममें जितनी भी शक्ति है, उसका ठीक-ठीक सदुपयोग करना। प्रयास करने पर भी जब ऐसा लगे कि हम नहीं कर पा रहे हैं, तब अपने को असहाय बोध करना होगा। जब समस्त अहंकार चूर्ण होकर मन में दीनता आएगी, तभी सम्भव है उनकी कृपा हो। इसके पहले नहीं। अतः ये समस्त साधनाएँ हमारे अहंभाव तथा बुद्धि के अभिमान आदि को चूर्ण करने के लिए हैं।

साधना करते समय यदि लगे कि मैं बहुत साधना करता हूँ, तो उससे भी अभिमान बढ़ता है। विचारपूर्वक साधना करने पर समझ में आ जाएगा कि हम चाहे जितनी भी साधना करें, पर आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं। साधना करते-करते जब समझ में आये कि कुछ हो नहीं रहा है, आगे नहीं बढ़ पा रहा हूँ, तब भी अभिमान क्या पूरी तौर से चूर्ण हो रहा है ? यदि नहीं हो रहा है तो क्या मैं उसी पथ पर चल रहा हूँ अथवा साधना की महत्त्वहीनता का अनुभव कर रहा हूँ ?

इस तरह हृदय में पूर्ण रूप से साधना की महत्त्व-हीनता का अनुभव हुए बिना उनकी कृपा नहीं होती।

जब तक 'मैं' सामने बना रहता है तब तक वह मानो एक दीवार खड़ी करके उनकी कृपा के आलोक को हमारे अन्तःकरण म प्रवेश नहीं करने देता । साधना के द्वारा अभिमान के इस बाड़ का नाश करना होगा। 'मैं' को निर्मूल कर देना ही साधना की मूल बात है । यदि यह हो सका तो समझेंगे कि जिस परिमाण में वह कर सका हूँ, उसी परिमाण में उनकी ओर अग्रसर हो रहा हूँ । ठाकुर ने यहाँ पर कहा है, "जितना ही उनकी ओर बढ़ोगे, उतना ही तर्क विचार कम हो जाएगा ।" 'तर्क-विचार' का तात्पर्य समझाते हुए वे कहते हैं---अहंकारप्रसूत जिस युक्ति-तर्क के द्वारा हम यह सिद्ध करने जाते हैं कि हमारे जैसा पण्डित कोई और नहीं है। अनुभव जितना स्पष्ट होगा गम्भीरता उतनी ही बढ़ेगी । अर्थात् जो जितना निकट होगा, उसका विचार उतना ही दूर होता जाएगा । साधक को तत्त्वलाभ हो जाने पर सारा विचार शान्त हो जाता है । निस्तरंग समुद्र के समान एक भी लहर नहीं उठेगी । यही लक्षण है ।

लक्ष्य यह है कि वे विचार से अतीत वस्तु हैं, यही समझने के लिए प्रारम्भ में विचार की आवश्यकता है । समझ लेना होगा । पर वस्तु की उपलब्धि करने में मन-वाणी की सार्थकता सदा के लिए भूल जाना होगा । भाषा के द्वारा व्यक्त करना तो दूर रहा, मन में उसकी धारणा तक करना सम्भव नहीं---मन में यह बात अच्छी तरह बैठ जाने पर विचार के लिए उसमें कोई स्थान नहीं रह जाता । तब वे चारों ओर परिपूर्ण रूप में अचानक ही प्रकाशित हो उठते हैं । यह क्रमशः नहीं होता इसीलिए कहते हैं, 'सहसा ।' एक आवरण है जिसके कारण बाहर

से प्रकाश नहीं आता । आवरण तोड़ देने पर समस्त अन्तःकरण उसी ज्योति से ज्योतिमय हो जाता है । वह ज्योतिमय होना ही सहसा उजाला होना है । उसकी उपलब्धि के लिए दीवार या बाड़ को तोड़ने का प्रयास करना ही हमारा कर्तव्य है ।

इसके बाद 'कृपा'

कृपा ही परम अवलम्बन है । उसे प्राप्त करने के लिए केवल एक ही योग्यता चाहिए—उनके पादपद्मों में आत्म-समर्पण । जब तक हम यह नहीं करते, कृपा की अनुभूति नहीं होगी । जब तक हम हृदय को पूर्ण रूप से उन्मुक्त नहीं करत, 'मैं' के घेरे को नहीं तोड़ते, तब तक कृपा की अनुभूति नहीं होगी । ठाकुर कहते हैं, "कृपा वायु तो बह रही है, पाल उठा दो ।" 'पाल उठाने' का अर्थ है कि वे हमें ले जाना चाहते हैं, उसमें सहयोग करना । पाल है शरणागति, शरणागति का पाल उठा देने से उनकी कृपा हमें आगे ले जायेगी । तब सहसा उजाला होकर हमारा सम्पूर्ण अन्तःकरण उद्भासित हो जाएगा, संशय-द्विधा का लेश तक नहीं रह जाएगा । सर्वावगाही, सर्वव्यापी सत्य दिवालोक के समान स्पष्ट हो जाएगा । वह सत्य आंशिक नहीं सम्पूर्ण होगा । अवतार-लीला में विश्वास उनकी कृपा के बिना सम्भव नहीं । मनुष्य के बीच एक मनुष्य होकर वे अवतीर्ण हो सकते हैं, उनकी कृपा के बिना हम इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते ।

❋

हारना हिम्मत नहीं, ऐ वीर तुम

स्वामी विवेकानन्द

('Hold on yet a while, Brave Heart' शीर्षक
कविता का स्वामी आत्मानन्दकृत काव्यानुवाद)

सूर्य को बादल जरा यदि घेर ले,
गगन में यदि दिखे थोड़ा अन्धकार,
हारना हिम्मत नहीं, ऐ वीर ! तुम,
विजय निश्चित ही मिलेगी तुम्हीं को ।

शरद आगे ठेल आती ग्रीष्म ज्यों,
लहर के उत्थान में ज्यों पतन है,
ज्योति-छाया सम सभी के रूप द्वय;
वीर ! कर अवलम्ब साहस का अतः ।

कर्म जीवन के विकट दुःखपूर्ण हैं
और उसके सुख असत् – उड़ जा रहे,
लक्ष्य धुँधला ही न तुमको क्यों दिखे,
मार्ग दिखता हो न तुमको क्यों जटिल;
वीर ! पर बढ़ते चलो नित हटाते
तमस को तुम, पूर्ण अपनी शक्ति से ।

नष्ट हो सकती नहीं कोशिश कभी,
नष्ट हो सकता नहीं कृत एक भी,
शक्ति जाये, ठगे आशा भले ही,
तुम्हारी ही शक्ति से होंगे प्रसूत
सर्व-अधिकारी पुरुष, यह जान फिर
हारना हिम्मत नहीं, ऐ वीर ! तुम ।

भले औ' मतिमान विरले हैं सही,
किन्तु उनके हाथ ही बाजी सदा;
त्वरित सब को यह समझ आती नहीं,
अन्य जनकी बात ना सुन बढ़ चलो।

दूरदर्शी जो, तुम्हारे साथ वे,
हैं तुम्हारे साथ प्रभु सब-शक्तिमान,
सर्व शुभ की वृष्टि तुम पर हो, महान !
सभी सम्यक् रूप से तुमको मिले।

श्री चैतन्य महाप्रभु (१५)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बंगला में लिखित उनका 'श्रीश्रीचैतन्यदेव' ग्रन्थ महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक रचना मानी जाती है। उसी का हिन्दी अनुवाद यहाँ धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया जा रहा है है । –सं.)

सप्तम अध्याय

पुरी लौटना, अन्तरंगों का आगमन, रथयात्रा, प्रतापरुद्र से मिलन और गौड़ीय भक्तों के साथ आनन्द

अपनी दक्षिण यात्रा के पूर्व चैतन्यदेव जब पुरी में थे, उन दिनों महाराज प्रतापरुद्र युद्ध के सिलसिले में विजयनगर में निवास कर रहे थे। लौटने के बाद लोगों के मुख से इन नवीन संन्यासी के रूप, गुण और महिमा के बारे में सुनकर उनके मन में अतीव विस्मय हुआ। फिर संन्यासी को पुरी में न पाकर राजा बड़े दुखी हुए और शिकायत के स्वर में सार्वभौम से बोले, "ऐसे महात्मा को आपने आदर-यत्न के साथ पुरी में ही क्यों नहीं रखा और उन्हें जाने क्यों दिया ?" सार्वभौम ने हँसते हुए उत्तर दिया, "महाराज, वे स्वतंत्र पुरुष हैं, कठोर त्यागी हैं; बाह्य सुख-सुविधा की उन्हें तनिक भी परवाह नहीं। कोई लोभ दिखाकर उन्हें रोक पाना असम्भव है। तो भी उहें पुरी में ही रोकने का हमने यथासाध्य प्रयास किया और हाथ जोड़कर सविनय बारम्बार प्रार्थना की। वे भी हमें आश्वासन दे गये हैं कि दक्षिण भ्रमण के पश्चात् वे आकर पुरी में ही निवास करेंगे।" सार्वभौम की बातें सुनकर राजा को बड़ा ही आनन्द हुआ और दोनों ने आपस में विचार-विमर्श करके उनके रहने के हेतु एक उपयुक्त स्थान

ठीक कर लिया। मन्दिर के समीप ही श्री जगन्नाथ के एक सेवक—काशी मिश्र नामक एक ब्राह्मण भक्त के घर के एक किनारे उद्यान के बीच एक अति निर्जन और मनोरम स्थान में एक सुन्दर कुटीर तैयार करके सुरक्षित रख दिया गया।

लगभग दो वर्ष बाद महाप्रभु दक्षिण-भ्रमणोपरान्त पुरी लौटे और उसी कुटीर में अपना 'आसन' लगाया। सौभाग्यवान काशी मिश्र अपने को धन्य मानकर प्राण-प्रण से उनकी सेवा में तत्पर हुए तथा सार्वभौम आदि अन्य लोग भी यथासाध्य उनकी ओर ध्यान रखने लगे। शचीदेवी, अद्वैताचार्य तथा भक्तगण को यह समाचार देने नवद्वीप आदमी भेजा गया। उन लोगों के आ जाने पर चैतन्यदेव ने माँ को साष्टांग प्रणाम कर उनसे आशीष की याचना की। तदुपरान्त उन्होंने आचार्य तथा भक्तगण के प्रति यथायोग्य सम्मान के साथ 'नमो नारायण' किया और बोले—"आगामी रथयात्रा के अवसर पर श्री जगन्नाथदेव का दर्शन करने पुरी पधारिए।"

सार्वभौम ने एक एक कर पुरी के समस्त गणमान्य भक्तों का चैतन्यदेव के साथ परिचय करा दिया। उनके पूत चरित्र और मधुर स्वभाव को देखकर और उनसे सहज-सरल भाषा में गम्भीर तत्त्वयुक्त उपदेश सुनकर सभी उन पर मुग्ध हो जाते। विशेषकर उनकी अलौकिक भाव-भक्ति को देखकर सबके अन्तर में महान् श्रद्धा का संचार हो जाता था। इस प्रकार क्रमशः श्री जगन्नाथ के श्रीअंग के सेवक जनार्दन, स्वर्णवेत्रधारी कृष्णदास, लेखन-अधिकारी शिखी माइति और उनके भाई मुरारी

माइती,मुख्य पाचक प्रद्युम्न मिश्र, प्रधान पुजारी प्रहराज महापात्र तथा और भी अनेक सम्भ्रान्त लोग उनके अतीव अनुगत भक्त हो उठे। रामानन्द राय के पिता श्रीयुत भवानन्द रायपट्टनायक पुरी में ही रहते थे। एक दिन उन्होंने अपने चार अन्य पुत्रों के साथ आकर चैतन्यदेव की चरणवन्दना की और आत्मसमर्पण करते हुए सेवा का अधिकार माँगा। महाप्रभु ने यथोचित सम्मान के साथ उनका आदर-सत्कार किया और उनके पुत्रों की प्रशंसा करते हुए बोले---

'पाँच दिनों के भीतर ही आयेंगे रामानन्द ।
उनके साथ पूर्ण हो जाएगा मेरा आनन्द ।।'

भवानन्द राय के विशेष अनुरोध पर उनके कनिष्ठ पुत्र वाणीनाथ को चैतन्यदेव की सेवा का अधिकार मिला। तभी से वाणीनाथ उनके साथ रहकर आवश्यकतानुसार उनकी सेवा करने लगे।

चैतन्यदेव के लौट आने का संवाद पाकर शचीदेवी तथा भक्तों के प्राण उल्लसित हो उठे थे। विशेषकर रथयात्रा का निमंत्रण पाकर बंगाल के भक्तों के आनन्द की सीमा न रही। शान्तिपुर में आचार्य के घर एकत्र होकर सबने विचार-विमर्श कर वहाँ जाने का निश्चय किया; फिर निर्धारित समय पर शचीदेवी को प्रणाम कर उनका आशीर्वाद लेकर उन लोगों ने पुरी की ओर प्रस्थान किया। भक्तों के हृदय में परम आनन्द का संचार हुआ था, अतः वे लोग खोल-करताल आदि के साथ संकीर्तन करते हुए अग्रसर हुए। मार्ग में विविध स्थानों से और भी अनेक भक्त आकर उनके साथ सम्मिलित हुए, जिसके फलस्वरूप उनकी टोली धीरे

धीरे एक विराट संकीर्तन-दल में परिणत हो गई।

इसके कुछ दिन पूर्व श्रीमत् परमानन्द पुरी नवद्वीप आये थे। एक दिन वे मिश्र-भवन में भिक्षा पाने को आये और शचीदेवी के समक्ष चैतन्यदेव के साथ अपनी भेंट का वर्णन किया। उनके मुख से चैतन्यदेव का संवाद पाकर शचीदेवी तथा भक्तों को अतीव आनन्द हुआ। उन लोगों ने अत्यन्त सम्मान तथा आदर-यत्न के साथ पुरीजी को कुछ काल नवद्वीप में ही रखा। इसी बीच चैतन्यदेव के पुरी लौट आने का संवाद मिला और पुरीजी और प्रतीक्षा न कर शीघ्रतापूर्वक पुरी चले आये। उन्हें देखकर तथा उनके मुख से शचीदेवी तथा भक्तों का समाचार जानकर चैतन्यदेव के मन में अतीव हर्ष का संचार हुआ। ध्यानसिद्ध पुरीजी के प्रति चैतन्यदेव की गुरुवत् श्रद्धा थी, अत: उन्होंने अत्यन्त श्रद्धा, भक्ति और आदर के साथ अपने निवास के समीप ही एक निर्जन कुटिया में उनके निवास की भी व्यवस्था करा दी। उनकी सेवा के लिए एक सेवक भी नियुक्त हुआ। ध्यान-धारणाशील, तपस्वी, वयोवृद्ध, ज्ञानप्रवीण पुरीजी का संग पाकर चैतन्यदेव अतीव आनन्दित हुए।

परमानन्दजी के आने के कुछ काल बाद श्रीमत् दामोदरस्वरूप नामक एक अन्य महात्यागी तत्त्वदर्शी प्रेमिक दशनामी ब्रह्मचारी आकर उनसे मिले। उन्हें पाकर चैतन्यदेव के आनन्द में सौगुनी वृद्धि हो गई। दामोदर स्वरूप के पूर्वाश्रम का नाम था श्री पुरुषोत्तम आचार्य और उनका जन्मस्थान नवद्वीप था। चैतन्यदेव की अपेक्षा आयु में थोड़े ज्येष्ठ होने पर भी बचपन से ही

दोनों के बीच बड़ी घनिष्ठता थी। पुरुषोत्तम आचाय का कण्ठ अत्यन्त मधुर था और वे उच्चकोटि के कीर्तनकार थे। भक्तिशास्त्र में भी उनकी विशेष पहुँच थी। नवद्वीप के दिनों में चैतन्यदेव उनके साथ सर्वदा भक्ति-तत्त्व पर चर्चा करते हुए रसास्वादन किया करते थे। चैतन्यदेव के संन्यास लेते ही पुरुषोत्तम आचार्य भी संसार त्यागकर काशी चले गए थे। शिखा-सूत्र त्याग और योगपट्ट ग्रहण के द्वारा चतुर्थाश्रमी न होकर, ऐसा प्रतीत होता है कि वे गैरिक वस्त्र धारण कर दशनामी मठ में 'ब्रह्मचारी' के रूप में प्रविष्ट हुए थे।* उनकी 'स्वरूप' की उपाधि से अनुमान किया जाता है कि वे शारदा मठ के ब्रह्मचारी थे। क्योंकि शारदा मठ के ब्रह्मचारीवृन्द को 'स्वरूप' की उपाधि दी जाती है। यद्यपि मठ में रहने वाले ब्रह्मचारी विरजा होम किए बिना वास्तविक संन्यासी नहीं होते, तथापि गृहस्थाश्रम के साथ उनका कोई सम्पर्क नहीं रहता। वे लोग भी संन्यासी के समान ही गैरिक धारण करके भिक्षान्न से उदर निर्वाह करते हुए त्याग-तपस्यामय जीवन बिताते हैं।

इसी प्रकार काशी में निवास करते हुए दामोदर स्वरूप किन्हीं संन्यासी के पास वेदान्तशास्त्र का अध्ययन करते थे। परन्तु चैतन्यदेव की भाव-भक्ति और उनके पुनीत संग के लिए उनके अन्तर में विशेष आकर्षण था, अतएव चैतन्यदेव के पुरी में रहने की बात सुनकर वे भी वहीं जा पहुँचे। उन्हें पाकर महाप्रभु अतीव हर्षित हुए और

* मठ के भेद से ब्रह्मचारीगण को पृथक्-पृथक् उपाधि मिलती है, यथा—आनन्द, स्वरूप, चैतन्य, प्रकाश इत्यादि।

स्नेहपूर्वक अपने समीप ही उनके रहने की व्यवस्था कर दी। दामोदर की तीक्ष्ण बुद्धि और सर्वविषयों में गति के कारण चैतन्यदेव सदा ही उनकी सलाह लिया करते थे। दामोदर स्वरूप और परमानन्द पुरीजी ये दोनों मानो उनकी दो भुजाएँ थीं। ध्यान - धारणा विषय पर चर्चा के समय पुरीजी उनके सहायक होते और स्वतन्त्र विषय तथा मधुर कीर्तन के समय दामोदर स्वरूप उनके सहयोगी सिद्ध होते।

इस बीच राय रामानन्द भी पुरी आकर उनसे पुनः मिले। राय ने बताया कि राजा ने उन्हें सांसारिक कर्मों से मुक्त करके पुरी में नवीन संन्यासी के साथ सदा निवास करने की अनुमति दे दी है। राय को पाकर तथा राजा का उनके ऊपर अनुग्रह होने की बात जानकर चैतन्यदेव अतीव आनन्दित हुए और सबके साथ राय का परिचय करा दिया। उनकी महिमा के बारे में सबने पहले से ही सुन रखा था और अब उन्हें प्रत्यक्ष पाकर वे लोग हर्षित हो उठे। राय और दामोदर स्वरूप ये दोनों चैतन्यदेव के विशेष अन्तरंग हुए, क्योंकि भगवत्तत्त्व तथा रसशास्त्र में उनका असीम ज्ञान था और दोनों ही समान रूप से भावुक थे। अब से लेकर चैतन्यदेव के शेष जीवन के साथ ये विशेष रूप से जुड़े हुए हैं।

महाराज प्रतापरुद्र यद्यपि अपना अधिकांश समय उड़ीसा की राजधानी कटक में ही बिताते थ, तथापि रथयात्रा आदि पर्वों के उपलक्ष्य में और यदा कदा अन्य समय भी सपरिवार पुरी आया करते थे। इस कारण पुरी में भी उनका राजभवन था। चैतन्यदेव के पुरी लौटने

का संवाद पाकर महाराज प्रतापरुद्र भी अतीव आनन्दित हुए और उन्होंने सार्वभौम को पत्र लिखकर सूचित किया कि वे चैतन्यदेव का दर्शन करने शीघ्र ही पुरी आएँगे। सार्वभौम यह शुभ संवाद लेकर चैतन्यदेव के पास उपस्थित हुए और बोले कि राजा प्रतापरुद्र आपसे मिलने को बड़े उत्कंण्ठित हैं। महाप्रभु ने अपने कानों पर हाथ रखकर नारायण का स्मरण करते हुए कहा, 'सार्वभौम, यह अनुचित बात क्यों कहते हो ? मैं विरक्त संन्यासी हूँ अतः राजा-दर्शन मेरे लिए नारी-दर्शन के समान विषतुल्य है। तुम फिर कभी ऐसी बात अपने मुख से मत निकालना, अन्यथा तुम मुझे फिर यहाँ न देख सकोगे।" सार्वभौम भयभीत और दुखी होकर चले गये। उन्होंने राजा से जाकर बता दिया कि महात्यागी संन्यासी राजा दर्शन के अनिच्छुक हैं। यह सुनकर राजा का चित्त भी खिन्न हो गया, परन्तु उन्होंने आशा न छोड़ते हुए सार्वभौम से पुनः अनुरोध किया कि वे इसके लिए विशेषरूप से पुनः प्रयास करें। सार्वभौम ने मन ही मन उपाय सोच लिया और प्रभुपाद नित्यानंद एवं अन्यान्य विशिष्ट भक्तों के साथ भी इस विषय में विचार-विमर्श कर लिया। फिर एक दिन अवसर देखकर सार्वभौम ने उन लोगों के समक्ष ही राजा के साथ साक्षात्कार का प्रसंग उठाया। राजा की भक्ति-श्रद्धा और विशेषकर चैतन्यदेव का दर्शन करने की उनकी तीव्र उत्कण्ठा की बात सुनकर सबके मन में हर्ष का संचार हुआ। भक्तों के साथ नित्यानन्द ने चैतन्यदेव से राजा के साथ साक्षात्कार करने का विशेष रूप से अनुरोध किया। परन्तु इसका भी कोई फल नहीं हुआ। चैतन्यदेव नाराजगी व्यक्त करते हुए बोले, "तुम

सबकी मुझे साथ लेकर कटक जाने और राजा से मिलने की इच्छा है। इससे हमारा परमार्थ तो नष्ट होगा ही, लोग हमारी निन्दा-भर्त्सना भी करेंगे।" काफी अनुरोध के पश्चात् भी जब वे राजा से मिलने को राजी नहीं हुए तब नित्यानन्द ने चैतन्यदेव की अनुमति लेकर राजा के सन्तोष हेतु एक अन्य व्यवस्था कर दी।

उनके द्वारा व्यवहृत एक पुराना गेरुआ चद्दर उनके सेवक से लेकर कटक में राजा के पास भेज दिया गया। प्रसादी वस्त्र पाकर राजा के अन्तर में अतिशय आनन्द का उद्रेक हुआ। उन दिनों रामानन्द कहीं अन्यत्र गये थे। इस घटना के कुछ काल बाद पुरी लौटने के पथ में वे कटक में रुक कर राजा से मिले। रथयात्रा का समय आसन्न था, अतः राजा भी राय के साथ ही पुरी आये। पुरी पहुँचने के उपरान्त राजा के विषय में चैतन्यदेव की सारी बातें राय के कानों में पड़ीं। राय के साथ चैतन्यदेव का गम्भीर प्रेम देखकर सार्वभौम ने उन्हीं को पकड़ा कि वे किसी प्रकार महाप्रभु को सहमत करके राजा के साथ उनका साक्षात्कार करा दें।

राजा के अनन्य अनुगत कर्मचारी रामानन्द भी स्वाभाविक रूप स राजा की मनोकामना पूर्ण करने के प्रयास में लग गये। रामानन्द व्यवहार-कुशल और राजनीति-निपुण थे। बातचीत के दौरान उन्होंने चैतन्यदेव के समक्ष राजा की श्रद्धाभक्ति, सेवाभाव, दीन-दुखियों के प्रति दया, दान, परोपकार तथा प्रजावत्सलता आदि सद्गुणों का उल्लेख किया और बताया कि वे स्वयं भी राजा के अनुग्रह के फलस्वरूप ही उनका पुनीत संग पाने में समर्थ हुए हैं। इस प्रकार राय के मुख से सर्वदा राजा

के हृदय के बारे में सुनते सुनते चैतन्यदेव का मन क्रमश: उनके प्रति स्नेहसिक्त हुआ। राय ने जब देखा कि चैतन्यदेव का मन अब पिघल गया है, तब उन्होंने प्रभु से निवेदन किया कि एक बार वे प्रतापरुद्र को अपने चरणों के दर्शन करा दें। चैतन्यदेव ने कहा, "रामानन्द, थोड़ा विचार कर तो देखो! संन्यासी होकर राजा से भेंट करने पर भिक्षु के दोनों लोकों का नाश हो जाता है। परलोक तो जाता ही है, यहाँ भी लोग उपहास करते हैं।" राय बोले, "आप तो ईश्वर हैं, स्वतंत्र हैं। आप परतंत्र तो हैं नहीं, फिर भला आपको किसका भय हो सकता है?" महाप्रभु ने कहा, "मैं संन्यासाश्रमी मनुष्य हूँ। मैं भय के साथ काय-मनो-वाक्य से आचरण करता हूँ। जैसे श्वेत वस्त्र पर कालिमा का बिन्दु मात्र भी नहीं छिप सकता, वैसे ही संन्यासी के छोटे से दोष पर भी लोग अँगुली उठाते हैं।" राय कहने लगे, "आपने कितने ही पापियों का उद्धार कर दिया है, परन्तु वे तो ईश्वर के सेवक और आपके भक्त हैं।" प्रभु बोले, "जैसे दूध के कलश में सुरा का बिन्दु मात्र पड़ जाने से कोई उसका स्पर्श नहीं करता, वैसे ही, यद्यपि प्रतापरुद्र सर्व-गुणसम्पन्न हैं, तथापि एकमात्र राजा नाम ने उन्हें मलिन कर दिया है। इस पर भी यदि तुम्हारा अतीव आग्रह हो, तो उसके पुत्र को लाकर मुझसे मिला दो। शास्त्र का कथन है कि आत्मा से ही पुत्र का जन्म होता है, अत: पुत्र के मिलने से मानो उसका अपना ही मिलना हो जायगा।"

रामानन्द ने सार्वभौम से सारी बातें कहीं। आश्वासन पाकर दोनों के ही मन में अतीव आनन्द का

संचार हुआ और एक दिन उन्होंने युवराज को लाकर चैतन्यदेव का दर्शन, भेंट तथा बातचीत करा दिया। किशोर राजपुत्र की विनम्र श्रद्धा-भक्ति पर चैतन्यदेव बड़े प्रसन्न हुए और उनके स्नेहमय मधुर उपदेश सुनकर बालक का अन्तर भी मुग्ध हुआ।

पुत्र के मुख से नवीन संन्यासी की अति तेजस्वी दिव्य अंगकांति तथा उनके करुणापूर्ण स्वभाव का परिचय पाकर राजा का आग्रह और भी बढ़ गया। संन्यासी से मिलने की इस व्यग्रता में राजा ने सार्वभौम को बताया, "यदि राजा होने के कारण चैतन्यदेव मुझसे मिलने को असहमत हों, तो मैं सिंहासन त्यागकर पुत्र को राज्यभार सौंप दूँगा।" राजा का मनोभाव समझ कर सार्वभौम और रामानन्द दोनों ही बड़े चिन्तित हुए। उस समय देश की हालत भी संकटापन्न थी।

दिल्ली के बादशाह की सहायता से बलवान होकर बंगाल के मुसलमान अधिपति हुसेनशाह उड़ीसा पर अपना प्रभुत्व कायम करने के लिए बारम्बार आक्रमण कर रहे थे; परन्तु एकमात्र वीरेन्द्रकेसरी प्रतापरुद्र के प्रताप के कारण ही उनकी दाल नहीं गलती थी। सीमा पर युद्ध और विग्रह लगा ही रहता था। इस संकट की घड़ी में यदि प्रतापरुद्र सिंहासन त्याग दें तो देश में असीम अव्यवस्था फैल जाएगी।

बुद्धिमान रामानन्द ने सोच-समझकर यह निश्चित कर लिया कि चाहे जैसे भी हो रथयात्रा के समय चैतन्यदेव के साथ राजा का मिलन कराना ही होगा। सार्वभौम और रामानन्द दोनों ने मिलकर राजा को आश्वस्त किया; उनकी बातें सुनकर राजा के चित्त को थोड़ा धैर्य मिला।

चैतन्यदेव के दीक्षा गुरु श्रीमद् ईश्वरपुरी महाराज के गोविन्द और काशीश्वर नामक दो अतीव विश्वस्त सेवक थे। अपने जीवनकाल में ही पुरीजी ने इन दोनों सेवकों को आदेश दिया था कि उनके देहत्याग के बाद वे लोग जाकर चैतन्यदेव की सेवा करें। चैतन्य-देव के पुरी लौटने के कुछ काल बाद ही गोविन्द ने आकर उन्हें पुरीजी के ब्रह्मलीन होने की खबर दी और उनकी अन्तिम इच्छा बताते हुए सेवाधिकार पाने की प्रार्थना की। उन्होंने यह भी बताया कि काशीश्वर भी कुछ काल बाद अपनी तीर्थयात्रा पूरी करके उनसे आ मिलेंगे। दीक्षा गुरु के परलोकगमन की बात सुनकर चैतन्यदेव अतीव व्यथित हुए। उन्होंने अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ गोविन्द को प्रेमालिंगन दिया और अपने प्रति गुरुदेव की असीम कृपा का उल्लेख करते हुए व्याकुल चित्त से बारम्बार उनके निमित्त प्रणाम करने लगे। तदुपरान्त वे गोविन्द के प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए बोले, "आप मेरे गुरुदेव के सेवक हैं, अतएव मेरे परम पूज्य हैं, आप की ही सेवा करना मेरा कर्तव्य है। मैं भला आपकी सेवा कैसे ग्रहण कर सकूँगा ?' परन्तु गोविन्द छोड़नेवाले न थे। वे श्रीमद् ईश्वरपुरीजी का आदेश बताकर व्याकुलतापूर्वक अनुरोध करने लगे। गोविन्द की निष्ठा देखकर सबका चित्त द्रवित हुआ। विशिष्ट भक्तों के अनुरोध तथा गुरु की आज्ञा सर्वथा पालनीय है, यह सोचकर, आखिरकार चैतन्यदेव ने गोविन्द को अपने पास रहने की स्वीकृति दे दी। तभी से गोविन्द ने छाया के समान उनके संग रहकर और प्राणप्रण से उनकी सेवा कर अपना जीवन सार्थक कर

लिया था। गोविन्द को शूद्र जाति का देखकर सार्वभौम ने विस्मयपूर्वक चेतन्यदेव से पूछा, "पुरीजी महाराज ने शूद्र को सेवक क्यों बनाया था?" इस पर चैतन्यदेव ने हँसते-हँसते उत्तर दिया, "ईश्वर की कृपा में जाति, कुल आदि का भेद नहीं है। स्वयं श्रीकृष्ण ने ही तो विदुर के घर भोजन किया था। ईश्वर-कृपा के लिए बिन्दु मात्र स्नेह की आवश्यकता है और इस स्नेह के वशीभूत होकर वे स्वाधीन आचरण करते हैं।"

चैतन्यदेव की दृष्टि में काम-कांचनासक्ति, लोभ, मोह, क्रोध, दम्भ, दर्प, अभिमान आदि भगवत्पथ की प्रबल बाधाएँ हैं और इन सब का त्याग ही संन्यासी का परम गौरव है। बाह्य त्याग का आडम्बर और प्रदर्शनीय वैराग्य उन्हें बिल्कुल भी पसन्द नहीं था। आन्तरिक निष्ठा और अनासक्ति की ही वे प्रशंसा किया करते थे। इसी काल में ब्रह्मानन्द भारती नामक एक वरिष्ठ संन्यासी भी पुरी में निवास करते थे। लोगों के मुख से चैतन्यदेव का माहात्म्य सुनकर ब्रह्मानन्दजी उनसे मिलने के लिए वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने मृगचर्म पहन रखा था। यह देखकर चैतन्यदेव के मन में दुःख हुआ कि भारतीजी ने आन्तरिक त्याग-तपस्या को प्रमुखता न देकर बाह्य वेशभूषा के द्वारा ही त्याग का आडम्बर अभिव्यक्त किया है। मुकुन्द दत्त जब भारती महाराज का परिचय देने को प्रस्तुत हुए तब चैतन्यदेव ने विस्मयपूर्वक उनसे पूछा, "कहाँ है भारती महाराज?" मुकुन्द द्वारा भारतीजी की ओर इंगित करने पर वे और भी विस्मित होकर बोले, "ये? कभी नहीं? भला ज्ञानवृद्ध भारती महाराज चर्म क्यों पहनेंगे?" भारतीजी लज्जित

हुए, अपना भ्रम समझकर उन्होंने तुरन्त चर्म त्यागकर गैरिक वस्त्र धारण कर लिया तब चैतन्यदेव ने अत्यन्त सम्मानपूर्वक उनका स्वागत किया और उनके साथ वार्तालाप करने लगे । बातचीत के दौरान महाप्रभु के हृदय का परिचय पाकर ब्रह्मानन्दजी का चित्त मुग्ध हुआ और तब से बाकी जीवन उन्होंने उन्हीं के साथ बिताया । भारती महाराज के प्रति चैतन्यदेव की असाधारण श्रद्धा थी। अत्यन्त सम्मान प्रदर्शित करते हुए उन्होंने कहा था, "ब्रह्मानन्द नामवाले आप सचल 'गौरब्रह्म' हैं, और श्यामब्रह्म जगन्नाथ अचल बैठे हैं ।"

देखते ही देखते जगन्नाथ के स्नानयात्रा का दिन आ पहुँचा। चैतन्यदेव ने भक्तों के साथ स्नानयात्रा के उत्सव में भाग लेकर परम आनन्द का उपभोग किया स्नानयात्रा के पश्चात् श्री जगन्नाथ का अंगराग होता है, अतः मन्दिर का दरवाजा बन्द रहने के कारण उन दिनों दर्शन नहीं मिलता । इस समय श्री जगन्नाथ के अदर्शन से दुखी होकर चैतन्यदेव निवास करने को अलालनाथ चले गये। परन्तु इसके कुछ दिन बाद ही उन्हें जब समाचार मिला कि बंगाल के भक्त पुरी के निकट आ पहुँचे हैं, तब वे शीघ्रतापूर्वक पुरी को लौट आये ।

अद्वैताचार्य, श्रीवास तथा अन्य गौड़ीय भक्त नवद्वीप से चलकर खोल, करताल, सिंगा और वेणु के साथ संकीर्तन करते हुए, अनेक दिनों तक सुदीर्घ पथ चलकर अब पुरी के प्रवेशद्वार अठारहनाला के निकट तक आ पहुँचे थे। चैतन्यदेव ने उनका स्वागत करने के लिए महाप्रसाद और माला-चन्दन के साथ दामोदर स्वरूप और गोविन्द को भेजा। उनके साथ नित्यानन्द प्रभु

भी गये। राजा प्रतापरुद्र तब पुरी में ही उपस्थित थे। गोपीनाथ आचार्य के मुख से राजा ने सुना कि चैतन्यदेव के प्रायः दो सौ अन्तरंग भक्त गौड़ देश से संकीर्तन करते हुए रथयात्रा दर्शन करने पुरी आये हैं। इस पर वे अतीव विस्मित और आनन्दित हुए। उन्होंने अपने एक कर्मचारी को उन लोगों के स्वागत-सत्कार तथा आहार-निवास आदि की सुव्यवस्था का भार सौंप दिया।

भावविह्वल गौड़ीय भक्तों ने हरिनाम की जय-जयकार से धरा-गगन को कम्पित करते हुए एक विजयी सेना की भाँति नगर में प्रवेश किया। उनके संकीर्तन की गम्भीर और सुमधुर ध्वनि पुरीवासियों के कर्णगोचर होते ही वे चारों ओर से दौड़कर आने लगे। विशाल भक्त-मण्डली, भावगम्भीर कीर्तन, नृत्य और मुहुर्मुहुः भावावेश देखकर एकत्रित जनसमुदाय उल्लसित होकर बारम्बार जयध्वनि करने लगा। अनन्त सागर के गुरुगर्जन के साथ उस ध्वनि ने संयुक्त होकर दारुब्रह्म की पुरी को शब्दब्रह्म की पुरी में परिवर्तित कर दिया। महाराजा प्रतापरुद्र गोपीनाथ आचार्य को साथ लेकर अट्टालिका के उपर से भक्तों का यह अद्‌भुत् संकीर्तन देखने लगे। भक्तगण एवं उनके मधुर कीर्तन पर मुग्ध होकर राजा ने आचार्य से कहा, "कोटि सूर्य के समान इन सब का उज्ज्वल वर्ण है। ऐसा मधुर कीर्तन, ऐसा प्रेम, ऐसा नृत्य और ऐसी हरिधुन भी कभी मेरे सुनने में नहीं आई।" भट्टाचार्य बोले, "आपका कहना सत्य है। यह प्रेम-संकीर्तन चैतन्यदेव की सृष्टि है।"

भक्तों का स्वागत करने के लिए चैतन्यदेव स्वयं ही अग्रसर हुए। आचार्य, श्रीवास, मुरारी, श्रीधर,

वक्रेश्वर आदि अन्तरंगों के साथ उनकी काफी काल बाद मुलाकात हुई थी, अतः उनके अन्तर में असीम आनन्द का संचार हुआ। भक्तों ने प्रेमाश्रु बहाते हुए उनकी चरण वन्दना की और उन्होंने सबको यथायोग्य सम्मान दिखाकर तथा प्रेमालिगन देकर स्वीकार किया। तदुपरान्त वे उन सबको अपने निवास स्थान पर ले गए। वाणीनाथ ने पहले से ही महाप्रसाद और माला-चन्दन की व्यवस्था कर रखी थी। चैतन्यदेव ने अपने हाथों उनका वितरण किया और उन्हें धारण कर भक्तों का हृदय अतीव उल्लसित हो उठा। विश्राम करने के बाद भक्तगण चैतन्यदेव के साथ वार्तालाप करने लगे। इसी बीच काशी मिश्र को साथ लिए राजकर्मचारी ने आकर बताया कि भक्तों के निवास हेतु स्थान तैयार है। चैतन्यदेव ने गोपीनाथ को भेजकर उन लोगों के निवास तथा सुख-सुविधा की व्यवस्था का निरीक्षण कराया और भक्तों से बोले कि वे अपनी अपनी जगह ठीक करके और समुद्रस्नान के बाद मन्दिर शिखर के चक्र* का दर्शन करके पुनः वहीं आकर महाप्रसाद धारण करें।

समागत भक्तों के वीच हरिदास को न देखकर चैतन्यदेव के मन में अतिशय चिन्ता का उदय हुआ। बाद में पूछने पर पता चला कि हरिदास पुरी में आये तो अवश्य हैं, परन्तु उनके पास न आकर वे दूर राजपथ के समीप एकान्त में बैठकर हरिनाम जप रहे हैं।

* उन दिनों मन्दिर का पट बन्द था, इसीलिए उन्होंने शिखर का दर्शन करने को कहा। ऐसी प्रथा है कि यदि विग्रह का दर्शन न हो सके तो शिखर का दर्शन करके ही जगन्नाथजी को प्रणाम निवेदित करना चाहिए।

चैतन्यदेव ने तुरन्त ही उन्हें ले आने को सन्देशवाहक भेजा । परन्तु हरिदास ने उत्तर दिया, "मैं तो नीच मोची जाति का क्षुद्र आदमी हूँ । मुझे मन्दिर के निकट जाने का अधिकार नहीं है ।" फिर चैतन्यदेव के आदेशानुसार जब भक्तगण उन पर दबाव डालने लगे, तो हरिदास ने कहा, "यदि निर्जन टोटा* के भीतर स्थान मिल जाय, तो मैं वहीं अकेला पड़ा हुआ समय बिता लूँगा ।" हरिदास का आन्तरिक अभिप्राय समझकर चैतन्यदेव ने काशी मिश्र से कह कर अपने निवास स्थान के समीप ही अत्यन्त निर्जन स्थान में एक कुटिया निश्चित कर दिया और स्वयं ही उन्हें ले आने को अग्रसर हुए । हरिदास को देखते ही उनके हृदय में भावसमुद्र तरंगायित होने लगा और प्रेम से पुलकित होकर वे अपने दोनों हाथ प्रसारित करके उन्हें आलिंगन करने को आगे बढ़े । इस पर हरिदास सन्त्रस्त होकर पीछे हट गये और बोले, "प्रभो, मुझे छूइए मत ! मैं परम पामर नीच और अस्पृश्य हूँ ।" परन्तु चैतन्यदेव माने नहीं और उन्हें प्रगाढ़ आलिंगन पाश में बाँधते हुए बोले, "तुम्हारा पवित्र धर्म मुझमें नहीं है, अतः स्वयं पवित्र होने के लिए मैं तुम्हारा स्पर्श कर रहा हूँ । तुम तो प्रतिक्षण सर्वतीर्थों में स्नान करते हो, प्रतिक्षण यज्ञ, तप, दान करते हो, निरन्तर चारों वेदों का अध्ययन करते हो, अतः द्विज संन्यासी की भी अपेक्षा तुम पावन हो ।"

* टोटा अर्थात् बगीचा । आजकल यह स्थान सिद्ध-बकुल के नाम से परिचित है, जो काशी मिश्र के भवन अर्थात् राधाकान्त मठ के समीप स्थित है ।

चैतन्यदेव ने हरिदास को साथ ले जाकर वह पूर्व निर्दिष्ट कुटीर दिखलाया और बोले, "इसी स्थान में रहकर तुम नाम संकीर्तन करो और मैं प्रतिदिन आकर तुमसे मिलता रहूँगा। मन्दिर के चक्र को देखकर तुम प्रणाम करते रहना और तुम्हारे लिए प्रसादी अन्न यहीं पहुँचा दिया जाएगा।" हरिदास के रहने-खाने की सुव्यवस्था करके चैतन्यदेव के मन में परम आनन्द हुआ और इसके पश्चात् वे निश्चिन्त भाव से समुद्र स्नान कर आये। भक्तगण भी उनके आदेशानुसार समुद्रस्नान तथा मन्दिर शिखर के चक्र का दर्शन करके उनसे आ मिले। पत्तलें बिछा दी गयीं और भक्तों को यथायोग्य स्थानों में बैठाकर उन्होंने स्वयं ही परोसना आरम्भ किया। सबके पत्तलों पर प्रसाद पड़ जाने पर भी भक्तगण हाथ उठाकर बैठे रहे, खाना शुरू नहीं किया। स्वरूप दामोदर भक्तों के हृदय की आकांक्षा को समझकर चैतन्यदेव से कहने लगे, "प्रभो, आपके बैठे बिना कोई भी आहार ग्रहण नहीं करेगा। आपके साथ रहने वाले सभी संन्यासियों को गोपीनाथाचार्य ने निमंत्रण दिया था। आचार्य भिक्षा का प्रसादान्न ले आये हैं। नित्यानन्द के साथ पुरी और भारती भी प्रतीक्षा कर रहे हैं, अतः आप भी भिक्षा पाने को बैठ जाएँ। वैष्णवगण को मैं परोस देता हूँ।" चैतन्यदेव सबके अनुरोध और आग्रह की उपेक्षा न कर सके। उन्होंने गोविन्द के हाथों हरिदास के लिए प्रसाद भेज दिया और हँसते हुए श्रीमत् नित्यानन्द प्रभु, परमानन्द पुरी, ब्रह्मानन्द भारती आदि संन्यासीगण को साथ लेकर थोड़ी दूर भक्तों के सम्मुख ही एक अलग पंक्ति में भिक्षा करने को बैठे। गोपीनाथ आचार्य आनन्द और

श्रद्धापूर्वक उन लोगों को परोसने लगे। स्वरूप दामोदर और जगदानन्द ने भक्तों को परोसने का उत्तरदायित्व ग्रहण कर लिया था। चैतन्यदेव की इच्छानुसार वे लोग भक्तों को प्रचुर मात्रा में प्रसाद परोसने लगे। भक्तों की हार्दिक आकांक्षा पूर्ण हुई, अब वे लोग चैतन्यदेव के मुख की ओर देखते रहे। उनके भिक्षान्न मुख में देने के बाद भक्तों ने भी जयध्वनि करते हुए परम आनन्द के साथ प्रसाद ग्रहण किया। उनका दर्शन और प्रसाद पाकर सबकी क्लान्ति और रास्ते की थकान दूर हो गयी।

यहाँ पर निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

(क) चैतन्यदेव भक्तों के साथ एक ही पंक्ति में न बैठकर संन्यासीगण के साथ अलग पंक्ति में बैठे। (ख) भक्तों को जो कुछ परोसा गया था, उन लोगों ने भी वही प्रसाद नहीं लिया, बल्कि उनके लिए अलग से भिक्षा की व्यवस्था हुई थी। (ग) हरिदास को भक्तों के साथ न बैठाकर उनकी कुटिया में ही प्रसाद भेज दिया गया। (घ) भक्तों को यथेच्छा न बैठाकर विचारपूर्वक यथायोग्य क्रम से बैठाया गया। इन सब विषयों पर पाठक के मन में संशय का उदय होना स्वाभाविक है, विशेषकर जब उन्होंने स्वप्रचारित परम उदार धर्ममत में मनुष्य मात्र के लिए समान अधिकार की घोषणा की थी, तो फिर उनके द्वारा ऐसी भेदबुद्धि क्या शोभा पाती है?

वस्तुत: उनके मन में किसी भी प्रकार के भेद बुद्धि का अस्तित्व न था, यह तथ्य उनके जीवन, कार्य तथा वार्तालाप में सर्वत्र दृष्टगोचर होता है। तथापि जैसे

पारमार्थिक सत्य, ज्ञान और भक्ति अधिकारी-भेद के तारतम्य से अभिव्यक्त होता है वैसे ही लौकिक व्यवहार में भी बड़े-छोटे, भले-बुरे के बीच तारतम्य की स्वीकृति है। धर्मप्रचारक इन लोकव्यवहारों को युगोपयोगी बनाकर पुनर्गठित करते हैं, और उन्हें अचानक ही चूर्ण-विचूर्ण करके समाज को विशृंखलित नहीं करते। वे लोग समाज में जिस प्रेरणा का संचार करते हैं, उसी के स्वाभाविक फलस्वरूप नया विधान गढ़ा जाता है। इस कारण हम देखते हैं कि चैतन्यदेव अपने काल के सामाजिक विधि-विधानों का यथासम्भव पालन किया करते थे।

(क) शास्त्रों ने गृहस्थ और संन्यासी के आचार-व्यवहार में भेद किया है। इसीलिए सबका अपना अपना आचार ठीक रखने के लिए उन्होंने भोजन के लिए बिल्कुल अलग-अलग बैठने की व्यवस्था की और स्वयं संन्यासीगण को साथ लेकर गृहस्थों से पृथक बैठे। इतना ही नहीं, अद्वैताचार्य आदि गृही भक्तों के प्रति अतीव श्रद्धा व्यक्त करने के बावजूद, वे उनके साथ न रहकर संन्यासी लोगों के साथ ही निवास करते थे।

(ख) संन्यासीगण के लिए भिक्षान्न पर जीवननिर्वाह का विधान है और चैतन्यदेव संन्यासी होने के बाद से ही सर्वदा इसका पालन करते थे। इसी कारण उन्होंने भक्तों द्वारा लाये हुए प्रसाद को ग्रहण न कर गोपीनाथाचार्य द्वारा प्रदत्त भिक्षान्न ही स्वीकार किया। गोपीनाथ पूर्वाह्न के समय ही संन्यासीगण को निमंत्रण दे गये थे।

(ग) तत्कालीन सामाजिक रीति-रिवाजों की कठोरता के विषय में शोध करने पर हम समझ सकते हैं कि यवन हरिदास को साथ लेकर एक ही पंक्ति में भोजन

करने पर उनका तथा गृही भक्तों का पुरी में निवास और सामाजिक सम्पर्क बिल्कुल ही असम्भव हो जाता। प्राचीन रीतियों को सहसा बलपूर्वक तोड़ देने पर समाज में सर्वत्र अव्यवस्था फैलती है और इससे समाज की उन्नति न होकर बल्कि अवनति ही होती है। आध्यात्मिकता, ज्ञान, भक्ति एवं अनुभूति पूर्णत: अन्तर की चीज है। उन्हें अन्तर में ही छिपाए रखकर यथासम्भव सामाजिक रीति-रिवाज और लोकाचार को मानकर चलने से जीवनयात्रा सुगम होती है और भगवद्भजन में भी सुविधा होती है।

(घ) सर्वत्र आयु, योग्यता और सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर ही यथाक्रम आसन पर बैठाने का नियम प्रचलित है। इसी कारण चैतन्यदेव ने उचित क्रम से सबको पंक्ति में बैठाया। वे यथासम्भव सारे जीवन ही यह सब रीति-रिवाज मानकर चले हैं। अति साधारण छोटे-मोटे विषयों में भी उनकी तीक्ष्ण दृष्टि रहा करती थी, इसी कारण हमने यहाँ इस पर किंचित् विवेचना की। भावावस्था में जब उनकी बाह्यसंज्ञा का लोप हो जाता, तब तो उन्हें अपनी देह तक विस्मृत हो जाती थी, अन्यथा सामान्य अवस्था में वे सभी विषयों पर निगाह रखते थे और लोकव्यवहार में अतीव निपुण थे।

(क्रमश:)

○

स्वामी विवेकानन्द की पुण्यस्मृति

स्वामी शिवानन्द

(श्रीरामकृष्ण संघ के द्वितीय अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी शिवानन्दजी ने अपनी यह स्मृतिकथा श्री महेन्द्रनाथ चौधरी द्वारा लिखित बंगला ग्रंथ 'विवेकानन्द चरित' की भूमिका के रूप में लिखी थी, जो बंगला संवत् १३२६ (१९१९ ई.) में प्रकाशित हुआ। तदुपरान्त यह १९६३ ई. में रामकृष्ण मिशन शिक्षणमन्दिर, बेलुड़ मठ के मुखपत्र 'सन्दीपन' के विवेकानन्द शताब्दी-जयन्ती स्मारक संख्या में पुनर्मुद्रित हुआ। स्वामी विवेकानन्द के अन्तरंग गुरुभाई द्वारा लिखित होने के कारण यह विशेष महत्व का जानकर हम उसका हिन्दी अनुवाद यहाँ दे रहे हैं। —स.)

मेरे सौभाग्य से १८७९ या ८० ई. में मुझे श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव के चरण-दर्शन हुए और उनकी कृपा प्राप्त हुई। यह प्रथम दर्शन परमहंसदेव के परमभक्त गृही डाक्टर रामचन्द्र दत्त महाशय के सिमुलिया के मधुराय गली में स्थित मकान में हुआ। रामबाबू सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द (तब के नरेन्द्रनाथ दत्त) के भाई लगते थे। स्वामीजी का गौरमोहन मुकर्जी लेन का मकान मधुराय की गली के अति निकट था। उस दिन भक्त रामचन्द्र एक उत्सव के उपलक्ष्य में परमहंसदेव को अपने घर लाये थे और अनेक भक्तों को भी निमंत्रित किया था। उसी दिन मुझे परमहंसदेव तथा उनके उस समय के अल्प-संख्यक भक्तों का पहली बार दर्शन हुआ। सम्भवत: उसी समय मैंने नरेन्द्रबाबू (स्वामी विवेकानन्द) को भी भक्तमण्डली में देखा था। अस्तु। क्रमश: ज्यों ज्यों मेरा दक्षिणेश्वर आना-जाना बढ़ने लगा, त्यों त्यों परमहंसदेव तथा उनके भक्तों के साथ परिचय भी घनिष्ठ होने लगा। धीरे धीरे स्वामीजी के साथ भी मित्रता प्रगाढ़ होने लगी। उन दिनों परमहंसदेव के तत्कालीन भक्तों का

नित्य ही भक्त रामबाबू के घर समावेश हुआ करता था और नित्य ही वहाँ परमहंसदेव की उपदेशावली एवं दैनन्दिन जीवन पर चर्चा तथा संकीर्तन, भजन इत्यादि भी होते थे। क्रमशः मेरे मन में सर्वदा ही परमहंसदेव के भक्तों के बीच निवास करने की इच्छा प्रबल होने लगी। ठाकुर यह बात समझ गये और एक दिन जब रामबाबू आदि अनेक भक्त दक्षिणेश्वर में उपस्थित थे, उन्होंने राम बाबू को बुलाकर कहा, "देखो राम, यह तारक (मेरा पूर्व-नाम) तुम लोगों के घर रहेगा। यह सदा ही मेरे भक्तों का संग करने को अत्यन्त उत्सुक रहता है।" रामबाबू ने तथास्तु कहकर उसी दिन से मुझे अपने घर में रहने का अनुरोध किया। मैं भी उसी दिन से उनके घर में निवास करने लगा।

अब मुझे बीच बीच में स्वामीजी के साथ मिलने-जुलने और वार्तालाप आदि करने का सुयोग मिलने लगा। ज्यों-ज्यों उनके साथ परिचय बढ़ने लगा, त्यों-त्यों मैं देखने लगा कि वे अतीव महान हैं; विशेषकर दक्षिणेश्वर में ठाकुर के सान्निध्य में स्वामीजी को देखकर क्रमशः मेरे मन में धारणा होने लगी कि ठाकुर का उनके प्रति स्नेह कितना उच्च और गम्भीर है। यद्यपि ठाकुर की कृपा से मैं भी त्यागी था और ठाकुर की कृपा से स्वामीजी ने भी क्रमशः संसार का नाता त्याग दिया; परन्तु उनका तेज, ओज, वीर्य इतना उज्ज्वल था कि स्वामीजी पूर्णचन्द्र के समान प्रतीत होते थे और स्वयं का एक नक्षत्र के समान बोध होता था। ठाकुर जब अस्वस्थ होकर काशीपुर के उद्यान में निवास कर रहे थे, तब स्वामीजी ने हम गुरुभ्राताओं को एकत्र कर उनकी सेवा में लगाया।

हम लोग भी उनके नेतृत्व में प्राणपण से ठाकुर की सेवा में रत हुए और साथ ही साथ हमारी शास्त्रचर्चा तथा साधना भी तीव्र गति से चलने लगी ।

परदु:ख में दु:खबोध करना स्वामीजी के स्वभाव में था; उनके बाल्यकाल से ही इसका परिचय मिला करता था । स्वामीजी के पितृवियोग के पश्चात् उनकी सांसारिक अवस्था काफी बिगड़ गयी थी, परन्तु उनके बन्धु-बान्धव उनके गुणों पर इतने मुग्ध थे कि वे लोग परोक्ष या अपरोक्ष रूप से स्वामीजी के सांसारिक अभावों को पूरा करने का प्रयास करते रहते । प्राय: ही ऐसा होता कि स्वामीजी कुछ रुपये लेकर घर को लौट रहे हैं ताकि घर पहुँचकर उससे भोजन आदि की व्यवस्था होगी, परन्तु रास्ते मे ही अचानक उनके सुनने में आया कि अर्थाभाव से किसी मित्र की अवस्था बड़ी खराब है और रुपये उन्हीं लोगों को सौंप-कर वे खाली हाथ घर लौट आते । माता पूछती, "बिले,* क्या आज रुपये-पैसे नहीं आये ? आज क्या कुछ भी नहीं मिला ?" उत्तर में स्वामीजी कहते, "आज जैसे भी हो चला लो, आज तो कुछ भी नहीं मिल सका ।" यह कहते समय ही भगवदिच्छा से कहीं से कुछ रुपये आ गये, उन्होंने माँ से कहा, "यह लो ।" ऐसी घटना प्राय: ही हुआ करती थी ।

काशीपुर के उद्यान-भवन में जब हम लोग ठाकुर की सेवा में लगे हुए थे, उस समय भी एक दिन एक ऐसी ही घटना हुई थी । एक दिन हमारे एक गुरुभाई स्वामी योगानन्द† ने स्वामीजी से कहा, "भाई नरेन, हमारे गाँव

---

* स्वामी विवेकानन्द के बचपन का नाम

† उन दिनों उनका नाम था—योगीन्द्रनाथ राय चौधरी और वे दक्षिणेश्वर ग्राम के ही निवासी थे ।

की एक महिला विधवा हो गयी है। उसके दो-एक सन्तान भी है, बड़ी गरीब है और उसके दूसरा कोई संरक्षक नहीं है। वह बड़े कष्ट में है; अभी यदि उसे तीस रुपये नहीं मिले, तो अपने बाल-बच्चों के साथ वह बड़े संकट में पड़ेगी।" यह सुनकर स्वामीजी बड़े अधीर हो उठे। हम लोगों में से अधिकांश तब स्कूल के छात्र थे, किसी के पास धन इत्यादि नहीं था। मेरा कुछ रुपया बचत खाते में पड़ा था। स्वामीजी ने कहा, "तारक दादा! तुम संन्यासी हो! तुम रुपये से क्या करोगे! इस निर्धन महिला को तीस रुपयों की आवश्यकता है, तुम अभी तीस रुपये निकालकर ला दो, नहीं तो जैसे भी हो हम तीस रुपयों की व्यवस्था करके संकट में पड़ी इस विधवा का उद्धार अवश्य ही करेंगे।" मैं तथास्तु कहकर रुपये निकाल लाया और ले जाकर स्वामीजी को दे दिये। स्वामीजी ने तत्काल ही उसे योगेन के हाथों दक्षिणेश्वर भेज दिया। ये घटनाएँ स्वामीजी की युवावस्था के दयार्द्र हृदय की परिचायक हैं। परवर्ती काल में उस दया का कितना विस्तार हुआ था और होगा—यह बात अब समग्र भारतवर्ष जान रहा है और जानेगा—भारत की क्यों भारतेतर स्थानों में भी ऐसा ही होगा।

काशीपुर के उद्यान-भवन में ठाकुर के सेवा में निरत रहते समय (हम लोगों में) वेदान्त चर्चा और वैराग्य का तरंग इतना प्रबल हो गया था कि एक दिन स्वामीजी ने ठाकुर को बिना बताये ही मुझे और कालीभाई को साथ लेकर, ज्ञान और वैराग्य की जीवन्त प्रतिमा बुद्धदेव की तपस्या और सिद्धि के स्थान बोधगया की गुप्त रूप से यात्रा की।

वहाँ पहुँचकर ,बुद्धदेव के सिद्धासन पर आसीन होकर वे गम्भीर ध्यान में डूब गये । हम लोग भी उनके दोनों ओर ध्यान करने बैठे । थोड़ी देर तक गम्भीर ध्यान के पश्चात् स्वामीजी अचानक ही एक बालक के समान फफक-फफक कर, फिर ऊँचे स्वर में रो उठे और मुझे जकड़ लिया । तदुपरान्त वे पुनः ध्यानमग्न हो गये । बाद में जब उनकी सामान्य अवस्था हुई, तो इस तरह रुदन का कारण पूछे जाने पर उन्होंने कहा, "ध्यान करते-करते मेरे मन में आया कि ज्ञान लाभ की आकांक्षा से महागुरु बुद्धदेव अपने राज्य, माता-पिता, रानी, राजकुमार सबको त्याग कर यहाँ आये और महाकठोर तपस्या एवं समाधि में निमग्न हो गये । अहा ! कहाँ हैं ! वे महापुरुष कहाँ हैं ! उन्हें तो देख ही नहीं पा रहा हूँ ! मन में इस तरह के विरह का भाव आते ही वैसी अवस्था हो गयी थी ।"

तीन दिन बोधगया में ध्यान, तपस्या तथा निकट के विविध स्थानों का दर्शन और फल्गु नदी में स्नान आदि करके हम पुनः काशीपुर के उद्यान-भवन में लौट आये । लौटने पर सुनने में आया कि ठाकुर को बिना बताये ही स्वामीजी के कहीं चले जाने पर वे बड़े अधीर हुए थे और संन्यासी भ्रातागण भी अत्यन्त चिन्तित हो गये थे । जब सबने ठाकुर के समक्ष अपनी-अपनी मनोवेदना व्यक्त की, तब उन्होंने कहा था, "मस्तूल का पक्षी जैसे उड़-उड़ कर पुनः मस्तूल पर ही आकर बैठता है, वैसे ही नरेन्द्र भी घूम-फिर कर शीघ्र यहीं आएगा । तुम लोग चिन्ता मत करो । ठीक वही हुआ । चौथे दिन ही हम सभी काशीपुर के उद्यान-भवन में लौट आये ।

ठाकुर के देहत्याग के पश्चात् स्वामीजी अपने त्यागी गुरुभाइयों के बारे में बड़े चिन्तित हुए । वे सभी निःसहाय थे, तथापि इतने दिनों तक एक साथ रहकर ठाकुर की सेवा में लगे रहने के फलस्वरूप उनके प्राणों में भ्रातृभाव इतना सुदृढ़ हो गया था कि उसे आसानी से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता था । ठाकुर के देहत्याग के १०-१२ दिन बाद मैं श्री वृन्दावनधाम गया । श्री माताजी भी अपनी दो भक्त-संगिनियों, स्वामी योगानन्द तथा अद्भुतानन्द महाराज को साथ लेकर श्री वृन्दावनधाम गयीं । सभी लोग ठाकुर के अन्तरंग भक्त बलराम बोस के कुंज में ठहरे । इधर कलकत्ते में स्वामीजी इसी चिन्ता में अधीर होकर भटक रहे थे कि किस प्रकार वे अपने गुरुभाइयों को साथ लेकर, किसी निर्जन स्थान में निवास करते हुए साधन, भजन, तपस्या एवं शास्त्रचर्चा आदि के माध्यम से, ठाकुर द्वारा प्रदर्शित मानव-जीवन के चरम उद्देश्य —उस दुर्लभ आत्मज्ञान की प्राप्ति करें । ठाकुर की कृपा से एक दिन अचानक ही उनके एक धनवान गृहीभक्त श्री सुरेन्द्रनाथ मित्र* स्वामीजी के पास आकर अतीव दुःख-पूर्वक रोते हुए बोले, "नरेन ! तुम मेरी एक विशेष सहायता करोगे क्या ?" उत्तर में स्वामीजी ने कहा, "अवश्य, आपके लिए हम लोग सब कुछ कर सकते हैं । अहा, आपने प्रभु के लिए कितना धन व्यय किया है ! उनकी कितनी सेवा की है !" सुरेन बाबू बोले, "ठाकुर मानो मुझसे कह रहे हैं, 'सुरेन तूने क्या किया ! मेरी इतनी सेवा करनेवाले मेरे ये भक्तगण छिन्न-भिन्न होकर कहाँ चले गये । तू उन्हें एक स्थान पर एकत्र करके रख

* इनका निवास स्थान भी स्वामी जी के घर के पास ही था ।

और उनके जीवन का उद्देश्य सफल करने में उनकी सहायता कर।' इसीलिए मैं तुमसे इस सहायता की याचना कर रहा हूँ कि प्रभु की सेवा करने वाले उन समस्त युवा भक्तों में से जो जहाँ भी हो, सबको लाकर एकत्र करो। दक्षिणेश्वर और कलकत्ता के मध्यवर्ती अंचल के किसी निर्जन स्थान में एक सस्ता सा किराये का मकान ले लो और उन सभी को वहीं ले आओ।" उत्तर में स्वामीजी कहने लगे, "मैं भी कई दिन से इसी चिन्ता में डूबा हूँ कि किस उपाय से इन सब युवक भक्तों को एकत्र करूँ, ऐसे समय प्रभु की इच्छा से आप ही इसका उपाय किये दे रहे हैं। मैं आज ही इसमें लग जाता हूँ।" अगले दिन स्वामीजी ने ठाकुर के एक परमप्रिय भक्त और अपने विशेष मित्र श्री भवनाथ चट्टोपाध्याय को बुलवाकर बराहनगर में एक भाड़े का मकान लेने की व्यवस्था की। वह मकान काफी पुराना था, टाकी के जमींदार मुंशीबाबू आदि का था। उसके एक कमरे में भवनाथ बाबू आदि के 'आत्मोन्नति विधायिनी सभा' का पुस्तकालय था और बीच-बीच में उसी कमरे में सभा का अधिवेशन भी होता रहता था। बाकी के पाँच-छह कमरों में हमारा मठ हुआ। ठाकुर की स्थापना हुई। हममें से भी, जो जहाँ भी थे, सभी आकर उसी मकान में एकत्र हुए। स्वामीजी अब काफी कुछ निश्चिन्त हुए। वहाँ पर खूब साधन, भजन, कीर्तन, शास्त्रपाठ और तपस्या आदि होने लगा।

कुछ काल इसी प्रकार व्यतीत होने के बाद स्वामीजी के मन में हिमालय में जाकर तपस्या करने की इच्छा का उदय हुआ। दो-एक गुरुभाइयों को साथ लेकर वे हिमालय

में तपस्या करने को निकल पड़े । इसी बीच स्वामीजी, मैं तथा और भी दो-एक गुरुभाइयों ने वाराणसी जाकर वहाँ कुछ काल तपस्या की । स्वामीजी एक निर्जन उद्यान में एकाकी रहा करते थे । हम लोग अन्यान्य स्थानों में रहते थे और बीच-बीच में एकत्र होते रहते थे । बीच में एक बार स्वामीजी पवहारी बाबा का दर्शन करने गाजीपुर गये और कुछ काल उनके बंगले में निवास किया था ।

पहली बार हिमालय में तपस्या करने जाकर उनका ठीक जमा नहीं । साथ के एक शिष्य को भयानक बीमारी हो जाने के कारण ऋषीकेश से लौटकर वे उसी शिष्य के साथ हाथरस में ठहरे हुए थे और वहाँ वे स्वयं भी बीमार पड़ गये । मैं भी स्वामीजी का पदानुसरण करने के विचार से हिमालय की ओर जा रहा था । बीच में श्री वृन्दावन दर्शन करके जाने की इच्छा से हाथरस जंक्शन पर उतरकर मैं वृन्दावन की गाड़ी पकड़ने की सोच रहा था कि अचानक सुनने में आया कि स्वामीजी वहीं पर हैं और बीमार हैं। फिर वृन्दावन जाना नहीं हुआ । पता लगाते हुए मैं स्वामीजी के निवासस्थान पर जा पहुँचा । वे मुझे देखते ही बोले, "क्यों तारक दादा ! आ गये ! मैंने सोचा था कि हरिद्वार पहुँचकर कुटिया बनाकर तुम्हें लिखूंगा, उसके बाद तुम आओगे । खैर, जब आ ही गये हो तो श्री वृन्दावन करके आ जाओ, उसके बाद तपस्या करने एक साथ ऋषीकेश चलेंगे ।" श्री वृन्दावन दर्शन करके हाथरस आने पर मैंने देखा कि स्वामीजी बड़े अस्वस्थ हैं । मैंने कहा, "इस समय आपको हिमालय में जाकर तपस्या करने की जरूरत नहीं । आपके शरीर की हालत बड़ी खराब है, मैं भी इस समय नहीं जाऊँगा, आपको साथ लेकर मठ को

लौटूँगा।" वे बोले, "नहीं, जब तुम एक शुभ उद्देश्य लेकर निकले हो तो हरिद्वार चले जाओ। मैं भी स्वस्थ होकर पुनः हरिद्वार की ओर जाऊँगा।" मैंने कहा, "नहीं, ऐसा कदापि नहीं हो सकता। आपको ऐसी अवस्था में छोड़कर मैं कदापि नहीं जाऊँगा। आपको अवश्य मठ ले जाऊँगा। आप ऐसी असहाय जगह पर बीमार पड़े रहेंगे और मैं तपस्या करने जाऊँगा? ऐसा कभी नहीं हो सकता।" स्वामी जी इस पर सहमत हुए और उसी दिन हम लोगों ने कलकत्ते की ओर प्रस्थान किया।

कुछ काल मठ में निवास करने के पश्चात् उनके मन में पुनः हिमालय में जाकर तपस्या करने की इच्छा बलवती हो उठी। तीन-चार गुरुभाइयों को साथ लेकर उन्होंने हिमालय के विभिन्न स्थानों का भ्रमण किया और अन्त में ऋषीकेश में आकर तपस्या करने लगे। गुरुभाइयों के साथ कुछ काल तक बड़े आनन्दपूर्वक तपस्या करने के बाद उनका शरीर (पुनः) भयानक बीमारी से संकटग्रस्त हुआ। तत्पश्चात् सभी नीचे उतर आये। मेरठ शहर के एक निर्जन बगीचे में रहकर अपना शरीर पूर्णरूपेण स्वस्थ हो जाने पर स्वामीजी परिव्राजक के रूप में एकाकी राजपुताना की ओर चल पड़े। गुरुभ्राताओं से उन्होंने कहा, "तुम लोग यथेच्छा अपना अपना साधन-भजन करते रहो। अब मैं एकाकी ही भ्रमण करूँगा। कुछ काल तक तुम लोगों में से कोई भी मेरा समाचार नहीं पा सकेगा।" वास्तव में वैसा ही हुआ, लगभग तीन वर्षों तक हमें उनका कुछ विशेष समाचार नहीं मिला। बीच-बीच में काठियावाड़ अंचल से थोड़ी-बहुत खबर मिली थी। उस समय हम लोग आलमबाजार मठ में थे। एक दिन

अचानक ही फ्रेंच भाषा में लिखा हुआ स्वामीजी का एक सुदीर्घ दस-बारह पृष्ठों का पत्र आ पहुँचा, जिससे हमें पता चला कि वे फ्रेंच भाषा सीख रहे हैं । बस, इसके बाद और कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ ।

उपरोक्त घटनाएँ १८८९ से १८९३ ई० के दौरान हुई थीं । १८९३ ई० के अप्रैल माह के अन्त में उन्होंने शिकागो के धर्ममहासभा में हिन्दू धर्म की व्याख्या करने के लिए अमेरिका की यात्रा की । १८९६ ई० में भारत लौटते समय पहले वे श्रीलंका में जहाज से उतरे । वहाँ से उन्हें मद्रास आने का आमंत्रण मिला । मैं मठ के कुछ संन्यासियों के साथ उनसे मिलने को मदुरा स्टेशन* पर गया था । मदुरा में रामनाद-नरेश के राजकीय डिब्बे से उतरकर उन्होंने अत्यन्त आनन्दपूर्वक हम सब का आलिंगन किया । कैप्टेन और श्रीमती सेवियर तथा श्री गुडविन—स्वामीजी के ये तीन शिष्य उनके साथ थे । हम सभी एक साथ रामनाद के राजभवन में विश्राम करने गये । शाम को मदुरा कालेज में मदुरा के शिक्षित समुदाय ने अपना अभिनन्दन-पत्र पढ़कर उन्हें सुनाया । उसी समय पहली बार मैंने स्वामीजी के व्याख्यान की शक्ति का अनुभव किया । इसके पहले जब हम लोग एक साथ भ्रमण और निवास करते थे, उस समय कभी उनकी ऐसी ओजपूर्ण वाग्मिता-शक्ति की अभिव्यक्ति मुझे देखने को नहीं मिली थी; विशेषकर एक विदेशी भाषा पर उनका इतना अधिकार हो गया था मानो वे अपनी ही मातृभाषा में व्याख्यान दे रहे हों । कालेज का वह भवन लोगों से भर गया और वे लोग बाहर तक खड़े थे । श्रोतागण मानो

* उन दिनों दक्षिण रेल्वे की लाइन मदुरा तक ही थी ।

चित्रलिखे से मुग्ध होकर सुन रहे थे। उस दिन शाम की मेल से हम सबने एक साथ मद्रास की यात्रा की। मार्ग में दक्षिण की काशी कुम्भकोणम*में स्वामीजी के पूर्वपरिचित मित्र प्रोफेसर रंगाचारी एम.डी. ने उनसे एक दिन के लिए वहाँ भी ठहर जाने का अनुरोध किया। स्वामीजी भी उनके अनुरोध को टालने में असफल होकर वहाँ उतरे। शाम को उन प्राध्यापक के अनुरोध पर स्वामीजी ने कालेज के भवन में दो घण्टे तक एक सुदीर्घ व्याख्यान दिया। वहाँ उपस्थित पण्डितमण्डली, छात्रवर्ग और कालेज के शिक्षकगण---सभी स्वामीजी का ओजस्वितापूर्ण व्याख्यान सुनकर मुग्ध हो गये। अगले दिन प्रातःकाल हम मद्रास को चल पड़े।

स्टेशन पर उतरकर हमने देखा कि प्लेटफार्म लोगों से भरा हुआ है। स्टेशन से बाहर निकलने का कोई रास्ता ही न था। पुलिस कमिश्नर साहब अपने कुछ सार्जेन्टों के साथ स्वामीजी के डिब्बे के पास आये और उनका हाथ पकड़कर भीड़ के भीतर से बाहर ले जाकर उन्हें अपने विशेष गाड़ी में बैठाया। हम लोग भी उनके साथ ही साथ आये। स्टेशन के बाहर आकर हमने देखा कि सड़क, घरों के बरामदे, छत और निकट के सभी वृक्ष लोगों से परिपूर्ण हैं। सभी मानो देवदर्शन की अभिलाषा से उत्कण्ठापूर्वक स्वामीजी की गाड़ी की ओर टकटकी लगाये देख रहे थे। गन्तव्य स्थान तक पहुँचने में लगभग दो घण्टे लगे। मद्रास में करीब पाँच-छह दिन रहना हुआ। इन कुछ दिनों के दौरान स्वामीजी ने वहाँ पाँच-छह व्याख्यान दिये।

* वहाँ भी काशी के समान ही संस्कृत की चर्चा होती है। वहाँ एक प्रथम श्रेणी का कॉलेज भी है।

तदुपरान्त कुछ शिक्षित मद्रासी शिष्यों के साथ स्टीमर में बैठकर उन्होंने कलकत्ते की ओर प्रस्थान किया । विदेशी शिष्य और हम लोग निरन्तर ही उनके साथ थे । जहाज में भी अंग्रेज पादरियों के साथ कुछ दिनों तक खूब धर्मचर्चा हुई थी । पादरी लोगों ने भी स्वामीजी से काफी शिक्षा प्राप्त की, जहाज का डेक मानो एक व्याख्यान-कक्ष हो गया था । स्वामीजी जब वार्तालाप करते तो उसे सुनने को जहाज के समस्त यात्री आकर डेक पर बैठ जाते थे । स्वामीजी कलकत्ता पहुँचे । वहाँ महासमारोह के साथ उनकी अभ्यर्थना हुई । कलकत्ते में भी क्रमशः उनके दो-तीन व्याख्यान हुए हम लोगों ने पुनः कुछ काल मठ में अतीव आनन्दपूर्वक बिताया, उस आनन्द का लिखकर वर्णन नहीं किया जा सकता ।

यूरोप और अमेरिका में अत्यधिक परिश्रम करने के कारण स्वामीजी का स्वास्थ्य भग्न हो चुका था, अतः उन्होंने कुछ काल हिमालय में जाकर विश्राम करने का निश्चय किया । शिष्यों के साथ वे अपने पूर्वपरिचित अल्मोड़ा पहाड़ में गये । उन दिनों मैं अल्मोड़ा में ही था, अतः पुनः कुछ दिनों के लिए मुझे उनके संग का लाभ मिला था । वहाँ सर्वदा उच्च तत्त्वों पर वार्तालाप हुआ करता था । स्वामीजी क्रमशः अपने को स्वस्थ महसूस करने लगे । स्वामीजी के अल्मोड़ा आने के कुछ ही दिनों पूर्व, हमारा मठ, गंगा के पश्चिमी तट पर, वर्तमान बेलुड़ मठ के निकट के एक किराये के मकान में स्थानान्तरित कर दिया गया था ।

अल्मोड़ा से स्वामीजी ने मुझे श्रीलंका में एक वेदान्त समिति प्रारम्भ करने को भेजा । सात-आठ महीने रहकर

मैंने वहाँ पर कोलम्बो वेदान्त समिति नामक एक संस्था का गठन किया । कोलम्बो में रहते समय मुझे प्रायः ही समाचार मिलता रहता था कि स्वामीजी अपने गुरुभाइयों एवं शिष्यों के साथ आनन्दपूर्वक बेलुड़ में निवास कर रहे हैं । पुनः उनका पुनीत संग पाने की इच्छा मेरे मन में इतनी प्रबल हुई कि मैं शीघ्र ही कलकत्ता लौट आया और बेलुड़ में निवास करने लगा ।

१९०१ई०के अन्त अथवा १०९२ ई० के प्रारम्भ में मैं कनखल सेवाश्रम के किसी कार्य के निमित्त वहीं निवास कर रहा था । सुनने में आया कि स्वामीजी बड़े अस्वस्थ हैं और जलवायु परिवर्तन के लिए काशीधाम आकर वहाँ बाबू कालीकृष्ण ठाकुर के उद्यान-भवन में ठहरेंगे । यह समाचार पाकर मैं काशी आया, पर स्वामीजी तब भी वहाँ पहुँचे नहीं थे । कालीकृष्ण बाबू स्वयं ही मकान की सफाई करा रहे थे । सफाई का कार्य पूरा हो जाने पर उन्होंने कर्मचारियों को आदेश दिया, "मैं जिन-जिन कमरों का उपयोग करता हूँ, उनका स्वामीजी उपयोग करेंगे और स्वामीजी जितने भी दिन इस उद्यान-भवन में निवास करेंगे, उतने दिन तुम सभी उनकी सेवा में लगे रहोगे ।" यह आदेश देकर वे कलकत्ता चले गये । स्वामीजी के आ पहुँचने पर मैंने देखा कि उनका शरीर बड़ा क्षीण हो गया है, परन्तु कुछ दिनों के भीतर ही वायु परिवर्तन का फल दृष्टिगोचर होने लगा और वे अपने को थोड़ा स्वस्थ बोध करने लगे । उद्यान-भवन में निवास के दौरान (एक दिन) केदारनाथ मन्दिर के महन्त महाराज स्वामीजी को सादर आमन्त्रित करके ले गये । साथ में हम लोग भी थे । कदारनाथ का दर्शन हो जाने के पश्चात् महन्त महाराज न स्वामीजी को

अपने प्रासाद में ले जाकर बैठाया और अत्यन्त प्रीति एवं परितोषपूर्वक सबको केदारनाथ के विविध प्रकार के उत्तम-उत्तम प्रसाद खाने को दिया । (तदुपरान्त) उन्होंने स्वामीजी की साक्षात् शिव ज्ञान से पूजा की और उत्तम गैरिक वस्त्र तथा कौपीन से उन्हें सजाया । सन्ध्या के समय हम सभी उद्यान-भवन में लौट आये ।

अयोध्या के अन्तर्गत आने वाले भिनगा के राजा उस समय वानप्रस्थ का व्रत लेकर काशी में दुर्गा मन्दिर के पास निवास कर रहे थे । पहले कुछ काल के लिए वे यू०पी० कौन्सिल तथा इम्पीरियल कौन्सिल के सदस्य भी थे । वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के एक ग्रेजुएट तथा विख्यात राजनीतिज्ञ थे । स्वामीजी का काशी आगमन हुआ है, यह सुनकर एक दिन उन्होंने नाना प्रकार के फल-मूल तथा मिष्ठान्न आदि और साथ में यह अनुरोध भी भेजा, "मैं वानप्रस्थ के नियमानुसार मकान के बाहर कहीं भी नहीं जाता । यदि आप अनुग्रह करके एक बार आकर दास को दर्शन दें, तो मैं कृतार्थ हो जाऊँ । निज गुण से मेरा अपराध क्षमा करेंगे ।" उत्तर में स्वामीजी ने राजा द्वारा प्रेषित कर्मचारी से कहा, "यद्यपि मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, तो भी मैं राजाजी से मिलने अवश्य जाऊँगा । मैं संन्यासी हूँ, मेरा इसमें मान-अपमान कुछ भी नहीं होता ।" अगले दिन महाराजा ने गाड़ी भेजी, स्वामीजी हम सबको साथ लेकर राजा को दर्शन देने गये । महाराजा के साथ उनकी बहुत सी बातचीत हुई । राजा महाशय ने कहा, "आपके अमेरिका जाने के बाद से ही मैं आपके कार्यकलाप की ओर विशेष ध्यान देता आ रहा हूँ । मेरी धारणा है कि जैसे शंकराचार्य और बुद्धदेव धर्माचार्य थे, उन्हीं के

समान आप भी इस युग के धर्माचार्य हैं । मैं काफी काल से आपका दर्शन पाने की आशा में था, सौभाग्यवश आज मेरी वह आशा पूर्ण हुई । मैं काशी में बहुत दिनों से निवास कर रहा हूँ और अनेक ज्ञानी, पण्डित तथा संन्यासी लोगों का संग कर रहा हूँ, परन्तु किसी में भी मुझे धर्म का भाव देखने को नहीं मिलता । मेरा विशेष अनुरोध है कि आप इस काशीधाम में अपने द्वारा प्रचारित उदार वेदान्त-धर्म का एक केन्द्र स्थापित करें । मैं इसमें सहायता के रूप में यत्किंचित् धन प्रदान करता हूँ ।" यह कहकर उन्होंने कुछ धन दिया । स्वामीजी बोले, "यद्यपि इस समय मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, परन्तु मैं अपने किसी गुरुभ्राता को इस कार्य में नियुक्त करूँगा । आपकी इच्छा अति शुभ है ।"

स्वामीजी के काशी अवस्थान के दौरान जापान सरकार के कला विभाग के एक उच्चपदस्थ कर्मचारी आकर उनके साथ कुछ दिन रहे थे, जो वेदान्त-प्रचार के लिए स्वामीजी को जापान ले जाने के लिए आये थे । पर शरीर अस्वस्थ होने के कारण उनका जापान जाना नहीं हुआ ।

१८९९ई. के मध्यकाल में स्वामीजी पुनः इंग्लैण्ड और अमेरिका गये । वहाँ डेढ़ वर्ष तक धर्मप्रचार आदि कर उन्होंने एक-दो स्थायी केन्द्रों की स्थापना की । फिर स्वामी अभेदानन्द और स्वामी तुरीयानन्द को उन केन्द्रों में बैठाने के बाद स्वामीजी अस्वस्थ होकर १९०० ई. के दिसम्बर में भारत लौट आये । दो-तीन वर्ष बहुमूत्र रोग के कारण उन्हें बड़ा कष्ट हुआ था ।

१९०२ ई. के जून महीने के अन्त में स्वामी जी ने मुझे वाराणसी में 'अद्वैताश्रम' की स्थापना करने को भेजा। वही उनके जीवन में प्रचार का अन्तिम कार्य था। मैंने भी स्वामीजी का आदेश शिरोधार्य कर वहाँ पाँच वर्ष तक निवास किया। प्रभु की कृपा से आश्रम के स्थायी रूप से गठित हो जाने पर ४ जुलाई १९०२ ई. को स्वामीजी ने महासमाधि ली।

●

विवेकानन्द के प्रति

मनिमय गुप्त, नागपुर

घनघोर घटा छाई थी, भारत के भाग्य गगन में
अँधियारा घोर निराशा, था व्याप रहा जन-जन में।

फिर उदय हुआ रवि भास्वर, सहसा ही पूर्वांचल में
जागी भारत की प्रज्ञा, आलोक हो गया पल में॥

नवजीवन के मंत्रों से जागा, जो भी सोया था।
तब ज्ञानरश्मि में सबने, पाया जो कुछ खोया था।

थे भटक रहे जगवासी, जड़वादी दुखमय पथ पर
आलोकित मार्ग दिखाया, तुमने युगनायक भास्कर॥

युवाशक्ति के प्रेरक स्वामी विवेकानन्द

स्वामी आत्मानन्द

(अन्तर्राष्ट्रीय युवा वर्ष के उद्घाटन के उपलक्ष्य में स्वामी विवेकानन्द के जन्म दिवस १२ जनवरी को भारत सरकार द्वारा राष्ट्रीय युवा दिवस घोषित किये जाने के अवसर पर १२-१-१९८५ को आकाशवाणी रायपुर से प्रसारित वार्ता का अनुलिखन)

चिर शुभ्र हिमाच्छादित शैल शिखर से फूट कर बहनेवाली निर्झरिणी के उद्दाम वेग ने शिल्पी भागीरथ के तपोबल के प्रभाव से अहर्निश सेवापरायणा गम्भीर देव-सरिता का रूप धारण किया था। वैसे ही, आज की युवा-शक्ति मन्दाकिनी अपने सर्जनशील गति विन्यास के लिए शिल्पी विवेकानन्द की ओर सतृष्ण नेत्रों से निहार रही है।

स्वामी विवेकानन्द चिर यौवन के प्रतीक हैं और युवाशक्ति के शाश्वत प्रेरक हैं। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक देश की तरुणाई को प्रबुद्ध करने का सफल उपक्रम किया था। वैसे तो साधारण तौर पर वे विश्व की ही युवाशक्ति को मानवसेवा की ओर उन्मुख करने का प्रयास करते रहे, पर उनका विशेष ध्यान भारत की तरुणाई की ओर था, जिसके माध्यम से वे इस सुप्त राष्ट्र में नवजागरण की लहर फैला देना चाहते थे। युवा-शक्ति को लक्ष्य करके दिये गये उनके सम्बोधन जैसे उस समय प्रासंगिक थे, वैसे ही आज भी हैं, क्योंकि उन्होंने जिन बिन्दुओं पर चर्चा की थी, जिन समस्याओं का उल्लेख किया था, वे आज भी विद्यमान हैं। तभी तो जवाहरलाल नेहरू ने सन् १९५० में स्वामी विवेकानन्द पर भाषण देते हुए कहा था—"पता नहीं आज की पीढ़ी में से कितने लोग स्वामी विवेकानन्द के व्याख्यानों और लेखों को पढ़ते हैं, पर मैं यह कह सकता हूँ कि मेरी पीढ़ी के बहुत से लोगों

पर उनका बहुत सशक्त प्रभाव पड़ा था। . . . .यदि आप स्वामी विवेकानन्द की रचनाओं और व्याख्यानों को पढ़ें, तो आप यह विचित्र बात पाएँगे कि वे पुराने नहीं लगते। उनका कथन यद्यपि ५६ वर्ष पहले हुआ था पर वे आज भी ताजा है, क्योंकि उन्होंने जिन विषयों पर लिखा या कहा, वे हमारी समस्याओं अथवा विश्व की समस्याओं के मूल भूत पहलुओं से सम्बन्धित हैं। अतः स्वामीजी ने जो कुछ लिखा या कहा, वह हमारे हित में है और वह आने वाले लम्बे समय तक हमें प्रभावित करता रहेगा।" उन्होंने आगे कहा, "वे साधारण अर्थ में कोई राजनीतिज्ञ नहीं थे, फिर भी मेरी राय में, वे भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के महान् संस्थापकों में से एक थे, और आगे चलकर जिन लोगों ने आन्दोलन में थोड़ा या अधिक सक्रिय भाग लिया, उनमें से अनेक के प्रेरणास्रोत स्वामी विवेकानन्द थे।" स्वामी विवेकानन्द की जन्मशताब्दी के उपलक्ष्य में सन्देश देते हुए उन्होंने लिखा था—"इस अवसर पर मैं भारतमाता की इस महान् सन्तान के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ जिसने हमारे देशवासियों में एक नया जीवन स्पन्दित किया।"

स्वामी जी के इस शाश्वत युवाशक्ति प्रेरक रूप के प्रति अपनी श्रद्धांजलि व्यक्त करते हुए योगी अरविन्द ने लिखा था—"यदि कभी कोई शौर्यपुरुष थे, तो वे विवेकानन्द थे। वे पुरुषों में सिंह थे। हम उनके प्रभाव को अभी भी शक्तिशाली रूप से कार्य करते हुए पाते हैं—पता नहीं कैसे, कहाँ, ऐसे कुछ में, जो अभी रूपायित नहीं हुआ है। वह सिंह सदृश, महाबली, अन्तःप्रज्ञ, उत्तोलक प्रभाव भारत की आत्मा में प्रविष्ट हो गया है और हम कह सकते

हैं—देखो मातृभूमि और उसकी सन्तानों की आत्मा में विवेकानन्द आज भी विद्यमान हैं।"

स्वामी विवेकानन्द युवाशक्ति से तीन बातों की अपेक्षा रखते हैं—पहली है बल। वे समस्त बुराइयों की जड़ दुर्बलता में देखते हैं। दूसरी है—परस्पर के प्रति ईर्ष्या का अभाव। और तीसरी बात है—संगठित होकर देश की सेवा के लिए आत्म-समर्पण। बल का पाठ पढ़ाते हुए वे कहते हैं, "आज हमारें देश को जिस चीज की आवश्यकता है,वह है लोहे की मांसपेशियाँ और फौलाद के स्नायु.प्रचण्ड इच्छाशक्ति, जिसका अवरोध दुनिया की कोई ताकत न कर सके, जो जगत के गुप्त तथ्यों और रहस्यों को भेद सके और जिस उपाय से भी हो अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में समर्थ हो फिर चाहे समुद्रतल में ही क्यों न जाना पड़े, साक्षात् मृत्यु का ही सामना क्यों न करना पड़े।"

जब एक दुबले-पतले युवक ने स्वामीजी से गीता के उपदेश सुनाने की प्रार्थना की, तो उन्होंने उसे शक्ति का उपदेश देते हुए कहा, "सबसे पहले हमारे नवयुवकों को बली होना चाहिए। धर्म फिर बाद में आएगा। तुम गीता के अध्ययन की अपेक्षा फुटबाल के द्वारा स्वर्ग के अधिक समीप पहुँच सकोगे। जब तुम्हारी मांसपेशियाँ कुछ मजबूत हो जाएँगी, तब तुम गीता को अधिक अच्छा समझ सकोगे। जब तुम्हार खून में कुछ जोर आ जाएगा, तब तुम कृष्ण की महान् प्रतिभा और प्रचण्ड शक्ति को और भी अच्छी तरह समझ सकोगे। जब तुम अपने पैरों पर दृढ़ता के साथ खड़े रह सकोगे और अपने को 'मनुष्य' अनुभव करोगे, तब उपनिषदों और आत्मा की महत्ता को और भी अच्छी तरह जान सकोगे।"

विवेकानन्द यह मानते थे कि प्रत्येक राष्ट्र का एक प्राणकेन्द्र होता है और उसी के आधार पर उस राष्ट्र का संघटन और पुनर्जागरण हो सकता है। भारत के लिए यह प्राणकेन्द्र उनकी दृष्टि में धर्म था और वे यह कहते नहीं थकते थे कि धर्म और अध्यात्म के स्पन्दन को बिना तीव्र बनाये भारत का पुनरुन्मेष साधित नहीं किया जा सकता। देश की गुलामी और धार्मिक अन्धविश्वासों का कारण भी वे यथार्थ धर्मभाव की शिथिलता ही मानते थे। उनके लिए वेदान्त के उदात्त और सार्वभौम सिद्धान्त ही यथार्थ धर्मभाव के आधार थे, जहाँ सबको अपनी उन्नति के लिए समान अवसर उपलब्ध था। देश के जनसाधारण की दुर्दशा उच्च वर्ग के लोगों के अत्याचार के कारण हुई, जिन्होंने उन्नति के सभी साधनों पर अपना एकाधिकार कर लिया। अतः देश को उठाने के लिए स्वामीजी सबका और विशेष रूप से युवकों का ध्यान इस पीड़ित और बेवस जनसमुदाय की ओर आकर्षित करते हैं। उनकी दृष्टि में भारत-राष्ट्र इन्हीं पीड़ितों और पददलितों का एक विराट समुदाय था। वे इसी राष्ट्रदेवता की भक्ति करने के लिए युवकों का आह्वान करते हुए कहते हैं— "सब मिथ्या देवी-देवताओं को भुला दो, पचास वर्ष तक कोई उनका स्मरण न करे। यह हमारी जाति ही एकमात्र ईश्वर है। हमारे सर्वप्रथम आराध्य हैं। हमारे देशवासी, हमारे जातीय बन्धु।" "हे भाइयों, हम सभी लोगों को इस समय कठिन परिश्रम करना होगा। अब सोने का समय नहीं है। हमारे कार्यों पर भारत का भविष्य निर्भर है। यह देखो, भारतमाता धीरे धीरे आंखें खोल रही है। वह कुछ देर सोयी थी। उठो उठो, उसे जगाओ

और पूर्वापेक्षा महागौरव मण्डितकर भक्तिभाव मे उसे अपने चिरन्तन सिंहासन पर प्रतिष्ठित करो।" फिर कहते हैं—"तुम्हें किसी भी प्रकार की विदेशी सहायता पर निर्भर नहीं रहना है। व्यक्ति की भाँति राष्ट्र को भी अपनी सहायता आप ही करनी होगी। यही सच्ची देश-भक्ति है।" "ऐ बच्चो, सबके लिए तुम्हारे दिल में दर्द हो—गरीब, मूर्ख, पददलित मनुष्यों के दुःख का तुम अनुभव करो, सम्वेदना से तुम्हारे हृदय का स्पन्दन रुक जाय, मस्तिष्क चकराने लगे, तुम्हें ऐसा प्रतीत हो कि हम पागल तो नहीं हो रहे हैं।"

वे मद्रास के अपने एक व्याख्यान में कहते हैं—"ऐ नवयुवको, मैं गरीबों, मूर्खों और उत्पीड़ितों के लिए इस सहानुभूति और अथक प्रयत्न को थाती के तौर पर तुम्हें सौंपता हूँ। जाओ, इसी क्षण जाओ उस पार्थसारथि के मन्दिर में, जो गोकुल में दीनदरिद्र ग्वालों के सखा थे, जो गुहक चाण्डाल को भी गले लगाने में नहीं हिचके, जिन्होंने अपने बुद्ध-अवतार में अमीरों का न्योता अस्वीकार कर एक वारांगना का न्योता स्वीकार किया और उसे उबारा। जाओ उनके पास, जाकर साष्टांग प्रणाम करो और उनके सम्मुख एक महाबलि दो, अपने जीवन की बलि दो, उन दीन, पतित और उत्पीड़ितों के लिए, जिनके लिए भगवान युग युग में अवतार लिया करते हैं और जिन्हें वे सबसे अधिक प्यार करते हैं।"

युवाशक्ति को सेवा की प्रेरणा देते हुए वे और भी कहते हैं—"जाओ, जाओ, तुम सब लोग वहाँ जाओ, जहाँ प्लेग फैला हो, जहाँ दुर्भिक्ष काले बादल की भाँति छा गया हो, जहाँ लोग दुःख-कष्ट के भार से पीड़ित हों और

जाकर उनका दुःख हल्का करो। अधिक से अधिक क्या होगा ? यही न कि इस प्रयत्न में तुम्हारी मृत्यु हो जायगी। पर उससे क्या ? तुम्हारे समान कितने ही लोग कीड़ों की भाँति प्रतिदिन जन्म ले रहे हैं और मरते जा रहे हैं। इससे इस बड़ी दुनिया का भला कौन सा टोटा हो जाता है। तुम्हें मरना तो होगा ही, तो फिर एक महान आदर्श लेकर क्यों न मरो, जीवन में एक महान आदर्श लेकर मर जाना कहीं बेहतर है। द्वार द्वार जाकर इस आदर्श का प्रचार करो और इससे तुम्हारी अपनी उन्नति तो होगी ही, साथ ही तुम अपने देश का भी कल्याण करोगे। तुम्हीं पर हमारे देश का भविष्य निर्भर है—उसकी भावी आशाएँ केन्द्रित हैं। तुम्हें अकर्मण्य जीवन बिताते देख मुझे मार्मिक पीड़ा होती है। उठो ! उठो ! काम में लग जाओ, हाँ ! काम में लग जाओ शीघ्र, शीघ्र। इधर उधर मत देखो—समय मत खोओ, दिन पर दिन काल तुम्हारे अधिकाधिक निकट आता जा रहा है। यह सोच-कर निठल्ले बने मत बठे रहो कि समय आने पर सब कुछ हो जाएगा। ध्यान रखो, ऐसा करने से कुछ भी न हो सकेगा।"

यह सब पढ़कर विश्वविख्यात फ्रेंच विद्वान एवं जीवनीकार रोमाँ रोलाँ पूछते हैं कि क्या भारत विवेका-नन्द की वाणी से विभोर होकर उस द्रष्टा की आशा के अनुसार कर्मरत हुआ ? और इस प्रश्न का स्वयं ही उत्तर देते हैं, "मिथ्या स्वप्नवादिता से ग्रस्त, पूर्वग्रह से बंधे और स्वल्प प्रयत्न में ही निस्तेज हो जाने वाले जनसमाज का संस्कार क्षण भर में बदल देना सम्भव नहीं है। परन्तु स्वामीजी के निर्मम कशाघात से भारत ने सोते में पहली

बार करवट ली और पहली बार उसने स्वप्न में अपनी प्रगति का शंखनाद सुना। उसे अपने ब्रह्म का बोध हुआ। भारत ने यह स्वप्न कभी विस्मृत नहीं किया। उसी से तन्द्रालस विशाल भारत का जागरण आरम्भ हुआ। विवेकानन्द के निधन के तीन वर्ष पश्चात् तिलक और गांधी के महान् आन्दोलन के श्रीगणेश के रूप में जो बंग-विद्रोह आगत पीढ़ी के सामने हुआ और मद्रास में आज तक जो संगठित जन-आन्दोलन हुए, वे सब (स्वामीजी द्वारा दिये गये) 'मद्रास के सन्देश' में निहित 'लाजारस आगे बढ़ो' की गुरु-गम्भीर पुकार के कारण हुए, जिसने बहुतों को जगाया है। इस ओजस्वी सन्देश का दोहरा अर्थ था—एक देश के लिए और दूसरा विश्व के लिए।"

स्वामीजी के इस आह्वान का ही प्रतिफल था कि युवक नेता सुभाषचन्द्र बोस ने लिखा—"स्वामी विवेकानन्द का धर्म राष्ट्रीयता को उत्तेजना देनेवाला धर्म था। नयी पीढ़ी के लोगों में उन्होंने भारत के प्रति भक्ति जगायी, उसके अतीत के प्रति गौरव एवं उसके भविष्य के प्रति आस्था उत्पन्न की। उनके उद्गारों से लोगों में आत्म-निर्भरता और स्वाभिमान के भाव जगे हैं। स्वामीजी ने सुस्पष्ट रूप से राजनीति का एक भी सन्देश नहीं दिया, किन्तु जो भी उनके अथवा उनकी रचनाओं के सम्पर्क में आया उसमें देशभक्ति और राजनीतिक मानसिकता आप से आप उत्पन्न हो गयी।"

भारत के राष्ट्रपति डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने अपने ऊपर पड़े स्वामीजी के प्रभाव को व्यक्त करते हुए कहा था—"इस शताब्दी के प्रारम्भ में जब मैं हाईस्कूल और कालेज का छात्र था। तो हम लोग स्वामी विवेकानन्द

के भाषण और पत्रसंग्रह पढ़ा करते, जो हाथ से नकल उतारे हुए होते और एक के पास से दूसरे के पास जाते। वे हमें प्रबल रूप से साहस देते और अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति हमें गर्व का अनुभव कराते। हिन्दू धर्म के महान् आदर्शों के पक्षधर होकर, मात्र जिनके द्वारा ही मानवता की रक्षा हो सकती है, स्वामीजी ने मानवता को एक श्रेष्ठ और उदात्त पथ की ओर ले जाने का प्रयास किया। आपके सामाजिक कार्यक्रम चाहे जो हों, आर्थिक और राजनीतिक जगत में आप चाहे जितनी क्रान्तियाँ ले आएँ, पर जब तक आपको धर्म की गतिशील प्रेरणा प्राप्त नहीं है, आप अपनी योजना में कभी सफल न होंगे। यदि आप सचमुच मनुष्य की दिव्यता में विश्वास करते हैं, तो एक क्षण के लिए भी हमारे पास आयी उस महान परम्परा को स्वीकार करने में आप न हिचकें, जिसके स्वामी विवेकानन्द महानतम व्याख्याकार थे।"

स्वामी विवेकानन्द युगपुरुष हैं। उनकी सारी आशाओं और आकांक्षाओं का केन्द्र युवाशक्ति है। तभी तो उन्होंने कहा था, "मेरा विश्वास युवा पीढ़ी में—आज की पीढ़ी में है। उसमें से मेरे कार्यकर्त्ता निकलेंगे। वे सिंह के समान सारी समस्याओं का सामना करेंगे।" और भी कहा था, "मैं इन युवकों को संगठित करने के लिये जन्मा हूँ। मैं इन्हें भारत के वक्ष पर दुर्निवार तरंगों के रूप में भेजना चाहता हूँ जिससे ये सबसे पददलित और निम्न से निम्न लोगों के दर दर नीति, धर्म शिक्षा और समृद्धि का प्रकाश ले जाएँ। और यह मैं करूँगा या मरूँगा।"

卐

स्वामी विवेकानन्द और जनसाधारण

स्वामी सत्यरूपानन्द

(दिसम्बर १९८३ ई. में बेलुड़ में आयोजित अखिल भारत विवेकानन्द युवा महामण्डल के वार्षिक शिविर में हुई सभा में प्रदत्त प्रस्तुत व्याख्यान को टेप से लिपिबद्ध करने का कार्य स्वामी निखिलेश्वरानन्द ने किया है, जो सम्प्रति श्री रामकृष्ण आश्रम, राजकोट के अन्तेवासी हैं।–स.)

मित्रो, आज की इस पावन संध्या में हम सब यहाँ विश्ववंद्य स्वामी विवेकानन्दजी के उपदेशों पर विचार कर उनसे प्रेरणा लेने के लिए इकट्ठे हुए हैं। मुझे जब यह बताया गया कि प्रतिवर्ष की भाँति इस वर्ष भी यहाँ अखिल भारतीय विवेकानन्द युवा महामण्डल का वार्षिक सम्मेलन होगा, तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मुझसे कहा गया कि 'स्वामी विवेकानन्दजी तथा भारत के जनसाधारण' विषय पर मैं अपने विचार आपके समक्ष रखूँ।

स्वामी विवेकानन्दजी ने स्वप्न देखा था कि भारत का भविष्य यहाँ के तरुणों के हाथों गढ़ा जायेगा। आज स्वामीजी की आत्मा यह देखकर अत्यन्त आनन्दित हो रही होगी कि सहस्रों युवक उनके भाव से प्रेरित होकर अपना चरित्र गठन करने को कटिबद्ध हैं। स्वामीजी के दर्शन को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उनके उपदेशों की बहुमुखता को समझा जाय। स्वामीजी ने हमें मानव जीवन का एक सर्वांगपूर्ण जीवन-दर्शन दिया है। मानव-जीवन का कोई ऐसा पहलू नहीं है जो उनके उपदेशों से अछूता रह गया हो।

स्वामीजी ने जीवन के शाश्वत तत्वों की अनुभूति की थी इसलिए उनके द्वारा दिये गये जीवन की समस्याओं के समाधान भी शाश्वत एवं विश्वजनीन हैं।

केवल भारत ही नहीं, समस्त विश्व की समस्याओं का समाधान हमें स्वामी जी की शिक्षाओं में मिलता है। इतना ही नहीं, स्वामीजी द्वारा दिये गये समाधानों के अतिरिक्त विश्व की समस्याओं का और कोई विकल्प या समाधान नहीं हैं। इस युग की यह माँग है कि उनके जीवन-दर्शन को समझा जाय, उस पर विचार-विमर्श किया जाय और व्यावहारिक जीवन में उसे उतारा जाय। इसका सब से बड़ा दायित्व आप और हम पर है, जो लोग स्वामी विवेकानन्दजी के आदर्शों को लेकर चलने की चेष्टा कर रहे हैं। आने वाले युग में सारा विश्व इस बात पर हमारी निन्दा या स्तुति करेगा कि हमने स्वामीजी के विचारों, उपदेशों को अपने जीवन में कितना उतारा है या उसकी कितनी उपेक्षा की है। यदि हमने प्रमादपूर्वक उनके विचारों और उपदेशों की उपेक्षा की तो सारा विश्व हमें अभिशाप देगा और यदि हमने नम्रतापूर्वक अपनी सामर्थ्य के अनुसार उन पर आचरण करने की चेष्टा की तो सारा विश्व हमें आशीर्वाद देगा तथा हमारा अपना जीवन भी धन्य हो जाएगा।

भारत के अपने जनसाधारण पर विचार करने के पूर्व हमें यह देखना होगा कि स्वामीजी की दृष्टि में भारत क्या था ? यह बात कदाचित कुछ लोगों को समीचीन न लगे—भला स्वामीजी की दृष्टि में भारत क्या था इस बात पर क्यों विचार किया जाय ? भारत तो बस भारत है।

स्वामी विवेकानन्दजी ने कन्याकुमारी की अन्तिम शिला पर ध्यानस्थ होकर जिस भारतमाता का साक्षा-त्कार किया था, वह भारत तथा उस समय के हमारे भारतीय भाइयों के मन में भारत का जो चित्र था और

कुछ अंशों में अभी तक हमारे मन में जिस भारत का चित्र है, उसमें बहुत बड़ा अन्तर है । स्वामीजी के 'भारत' को यदि एक शब्द में व्यक्त करना हो तो वे थीं एक "जागृत देवी !" उन्होंने भारतमाता की चेतनता का बोध किया था । राजपुताना के अपने एक मित्र को स्वामीजी ने एक पत्र में लिखा था, "मेरी इच्छा है कि मैं अपना समस्त जीवन अपने धर्म तथा अपनी मातृभूमि की सेवा में समर्पित कर दूं ।"

१८९७ ई. में पाश्चात्य देशों में भारतीय संस्कृति और धर्म की विजय-वैजयन्ती फहराकर जब स्वामीजी भारत लौटे तब कोलम्बो के हिन्दू नागरिकों ने उनका भव्य स्वागत किया था । उस स्वागत के उत्तर में दिया गया उनका वह व्याख्यान बहुत प्रसिद्ध है । उस व्याख्यान का आरम्भ ही स्वामीजी ने भारत के प्रति अपनी श्रद्धा और भक्ति प्रकट करते हुए किया था । इस व्याख्यान को यदि आप पढ़ें तो पायेंगे कि आरम्भ में ही स्वामीजी कहते हैं, "पहले मैं भी अन्य हिन्दुओं की तरह विश्वास करता था कि भारत पुण्यभूमि है—कर्मभूमि है. . . . पर आज मैं इस सभा के सामने खड़ा हो कर दृढ़ता के साथ बारम्बार कहता हूँ कि यह सत्य है ! सत्य है ! सत्य है ! यदि पृथ्वी में ऐसा कोई देश है जिसे हम पुण्यभूमि कह सकते हैं—यदि ऐसा कोई स्थान है जहाँ पृथ्वी के सब जीवों को अपना कर्मफल भोगने के लिए आना पड़ता है—यदि ऐसा कोई स्थान है जहाँ भगवान को प्राप्त करने की आकांक्षा रखनेवाले जीवमात्र को आना होगा, यदि ऐसा कोई देश है जहाँ मानव जाति के भीतर क्षमा, धृति, दया, शुद्धता आदि सद्वृत्तियों का सर्वापेक्षा अधिक

विकास हुआ है—यदि ऐसा कोई देश है जहाँ सर्वापेक्षा अधिक आध्यात्मिकता तथा अन्तर्दृष्टि का विकास हुआ है तो मैं निश्चित रूप से यही कहूँगा कि वह हमारी मातृभूमि भारतवर्ष ही है।"

यह भारत क्या है, इसे हमें समझना होगा। स्वामीजी का भारत तथा भारत की जो कल्पना आज हमारे मन में है, उसमें अन्तर कहाँ है, यह समझना होगा। इसे समझने के लिए हमारे इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक है। स्वामीजी ने जिस भारत के दर्शन किये थे वह उनका समकालीन भूखा, नंगा, दरिद्र भारत नहीं था। जिस भारत के प्रति उन्होंने श्रद्धाञ्जलि अर्पित की थी वह परमुखापेक्षी गुलाम भारत नहीं था। स्वामीजी ने जिस भारत के दर्शन किये थे वह अतीत का गौरवशाली तथा भविष्य में परम महिमा-मण्डित होनेवाला सर्वांगीण उन्नत भारत था।

स्वामीजी ने भारत के इतिहास का गहन अध्ययन किया था। अपने एक व्याख्यान—हमारा प्रस्तुत कार्य में स्वामीजी ने हमारे देश के पतन का कारण बताया। उस कारण की मीमांसा करते हुए उन्होंने एक अभिनव ऐतिहासिक दृष्टि देकर हमारे एक बड़े भ्रम को दूर किया। हम लोगों को इतिहास में पढ़ाया गया है कि मुसलमानों के आक्रमण के बाद हमारे देश का पतन हुआ और हम गुलाम हो गये। स्वामीजी ने बताया कि मुसलमानों के आक्रमण के दो तीन शताब्दी पूर्व ही हमारी जाति ने अपना सत्व एवं शक्ति खो दी थी। इतिहास में रुचि रखने वाले लोग जानते हैं कि इस्लाम के प्रारंभिक धर्म प्रचार आक्रमण के समय लगभग सन् ७१२ या ७१५

ई. में ही भारत के सिन्ध प्रान्त (जो अब पाकिस्तान में है) पर मुसलमानों का अधिकार हो गया था । किन्तु वस्तुतः इस देश में उनका राज्य पहली बार स्थापित हुआ ११९१ ई. में जब मुहम्मद गोरी पृथ्वीराज को हरा कर दिल्ली की गद्दी पर बैठा ।

आश्चर्य की बात है, इस बीच लगभग चार-पाँच सौ वर्षों का अन्तराल रहा । कहाँ आठवीं शताब्दी का प्रारम्भ और कहाँ बारहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग किन्तु इन विदेशियों के आक्रमण को रोकने के लिए कोई चेष्टा नहीं हुई । हम कितने असंगठित और दुर्बल हो गये थे, इतिहास के कुछ उदाहरण ही यह हमें स्पष्ट बता देते हैं ।

११९१ में मुहम्मद गोरी दिल्ली की गद्दी पर बैठा । तीन वर्ष पश्चात् सन् ११९४ में उसने काशी पर विजय प्राप्त कर ली । लगभग उसी समय बंगदेश भी मुसलमानों के अधिकार में आ गया ।

क्या कारण है कि जहाँ एक ओर हजारों शकों और हूणों के आक्रमण हमारे देश पर शताब्दियों तक होते रहे, किन्तु उनको हमारी जाति ने आत्मसात् कर लिया वे हमारे रक्त में मिलकर एक हो गये, उन्होंने हमारा धर्म स्वीकार लिया तथा हमारी संस्कृति से एकाकार हो गये; और पेशावर से मुर्शिदाबाद तक उसी देश को मुट्ठी भर मुसलमानों ने ८–१० वर्षों में ही जीत लिया ? क्या कारण था ? स्वामी विवेकानन्दजी ने 'भारत का भविष्य' तथा 'मेरी समरनीति' नामक अपने व्याख्यानों में इस कारण की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है । उनके 'हमारा प्रस्तुत कार्य' विषयक व्याख्यान में भी हम इसकी चर्चा पाते हैं ।

इतिहासकारों का कहना है कि भारत का पतन तो सम्राट् हर्षवर्धन के बाद से ही प्रारम्भ हो गया था। हर्षवर्धन के बाद इस देश में कोई चक्रवर्ती सम्राट् नहीं हुआ तथा इसी कारण हमारी एकता दुर्बल और खण्डित हो गयी। उस समय भी हमारे देशवासी सुशिक्षित थे, वीरता भी कम नहीं थी। किन्तु अति सम्पन्नता के कारण उनमें विलासिता आ गयी और उस का यह परिणाम हुआ कि सिन्ध पर विधर्मियों के आक्रमण के पश्चात् चार-पाँच सौ वर्षों का समय मिलने पर भी हम लोग विपत्ति का सामना करने के लिए स्वयं को प्रस्तुत न कर पाये। इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर यह सत्य हमारे सामने और भी प्रत्यक्ष हो उठता है। व्यक्तिगत मान-प्रतिष्ठा तथा राज्यलोभ के कारण हम परस्पर ही लड़ रहे थे। सोभनाथ के मन्दिर पर आक्रमण करने के पूर्व गजनी के अमीर ने गुप्तचर भेज कर वहाँ का सब हालचाल जानना चाहा था। उसे खबर लगी कि सोमनाथ के पास झालोर नामक एक राज्य है जिसके राजा वाक्यपति बड़े शूरवीर और शक्तिशाली हैं। उनके पास एक बड़ी सेना भी है। झालोर के राजा से मैत्री किये बिना सोमनाथ पर विजय असम्भव है। गजनी ने मुल्तान के राजा जयपाल को अपना दूत बनाकर झालोर भेजा तथा राजा वाक्यपति से कहलाया कि हम आपके राज्य पर आक्रमण नहीं करना चाहते और न ही आपको किसी प्रकार की हानि पहुचाना चाहते हैं। आप हमारे सोमनाथ पर आक्रमण के समय कोई वाधा न दें तथा तटस्थ रहें। राजपूती शान में राजा वाक्पति ने गजनवी को वचन दे दिया। जब सोमनाथ पर आक्रमण हुआ

तब राजा भीमदेव के नेतृत्व में राजपूतों ने मन्दिर की रक्षा करने का निर्णय किया। राजा भीमदेव ने झालोर के राजा के पास अपन मन्त्री को भेज कर इस विपत्ति के समय मन्दिर को बचाने में सहायता करने की प्रार्थना की। झालोर के राजा वाक्पति ने उत्तर दिया, "गत वर्ष जब मैं मारवाड़ पर आक्रमण करना चाहता था और आप से मदद माँगी थी, उस समय आपने कहा था कि मारवाड़ में आपके सम्बन्धी हैं इसलिये आप मेरी सहायता नहीं कर सकते। अब जब आप पर विपत्ति आयी है तो मैं भी आपकी सहायता नहीं करूँगा। आपकी विपत्ति आप स्वयं झेलिए और इस फूट का परिणाम क्या हुआ, यह हम सभी जानते हैं।

यह क्यों हुआ ? हमारी दुर्बलता ! हमारे धर्म में आयी विकृति ही इसका कारण थी। धर्म रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों में सिमट कर निर्जीव-सा हो उठा था। धर्म के नाम पर समाज ऊँची-नीची श्रेणियों में विभक्त हो गया था। सारा देश शासक और शासित दो भागों में बँट चुका था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, तथा वैश्य जिनकी संख्या समाज में अपेक्षाकृत कम थी, शासक बन बैठे तथा बहुसंख्यक दीन-हीन, दुर्बल, उपेक्षित, परिश्रमरत लोग शासित होने के लिए बाध्य हुए। यही बहुसंख्यक, उपेक्षित दीन-हीन लोगों का समाज ही भारत का जनसाधारण समाज था और आज भी है।

परिव्राजक जीवन में जहाँ स्वामीजी राजा-महा-राजाओं के साथ रहे, वहीं वे दीन-दुखी मोची-मेहतरों के साथ भी रहे थे। अपने अनुभव से स्वामीजी ने यह जान लिया था कि राजा-महाराजाओं तथा धनिक वर्ग के लोगों

से इस देश का कल्याण नहीं हो सकता । इस देश का कल्याण होगा इन बहुसंख्यक दीन-दुखियों के उत्थान से, इनके विकास से, इनके जागरण से । इसीलिए उन्होंने दो बातें कहीं "जनसाधारण के पास जाओ" अर्थात् उन्हें जगाओ उनकी उन्नति की व्यवस्था करो तथा "स्त्रियों को शिक्षा दो ।" इसके बिना इस देश का कल्याण नहीं हो सकता ।

जनसाधारण को जगाने का उपाय क्या है ? स्वामी जी ने हमें बताया कि शिक्षा ही एकमात्र उपाय है, जिसके द्वारा जनसाधारण को जगाया जा सकता है । यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि स्वामीजी ने अँगरेजों द्वारा चलायी गयी बाबू गढ़नेवाली शिक्षा की बात नहीं कही थी । उनका कथन था कि जो शिक्षा मनुष्य को मनुष्यत्व दे, उसके भीतर की पूर्णता को प्रकट करे, उसे आत्मविश्वासी तथा स्वावलम्बी बनाए, वही सच्ची शिक्षा है । केवल अर्थकरी-शिक्षा व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास नहीं कर सकती, अत: अर्थकरी-शिक्षा के साथ-साथ धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा भी देनी पड़ेगी । धर्म ही हमारे समाज का मेरुदण्ड है । इसलिए हमारी शिक्षा का आधार धार्मिक और आध्यात्मिक होना चाहिए ।

अब प्रश्न यह है कि यह शिक्षा कौन दे ? इसका दायित्व स्वामीजी ने देश के शिक्षित लोगों को दिया । उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि देश का शिक्षित वर्ग इन्हीं दीन दुखियों के परिश्रम से उपलब्ध सुविधाओं के कारण ही शिक्षित हो सका है । अत: अब शिक्षित वर्ग के लोगों का कर्त्तव्य है कि वे अपने दीन हीन-अशिक्षित भाइयों की शिक्षा का दायित्व लें, इसका समुचित प्रबंध करें । यदि वे ऐसा नहीं करते, तो देशद्रोही हैं ।

और भी एक महत्त्वपूर्ण बात स्वामीजी ने कही है। हमारे ये दीन-दुखी देशवासी भाई अपना व्यक्तित्व खो चुके हैं, आत्मविश्वास खो चुके हैं; दीनता तथा हीन-दासत्व की भावना उनके मन में घर किए बैठी है। इसे दूर करना होगा। उन्हें बताना होगा, "भाई, तुम भी मनुष्य हो, तुम्हारे भीतर भी अनन्त शक्ति है। तुम्हारी उन्नति की सम्भावनाएँ भी महान हैं। उठो! जागो! अपने आप पर विश्वास करो तथा उन्नत मस्तक होकर सभ्य और शिक्षित लोगों के साथ कदम-से-कदम मिलाकर चलो। महानता और सफलता किसी वर्गविशेष की सम्पत्ति नहीं है। विश्वास रखो, लगन और परिश्रम के द्वारा तुम भी महानता और सफलता प्राप्त कर सकते हो।"

स्वामीजी ने हमें चेतावनी दी है कि यदि हमने अपना कर्त्तव्य-पालन नहीं किया तथा दुखी-दरिद्र जनसाधारण की उपेक्षा की, तो वह दिन दूर नहीं कि ये लोग जागेंगे तथा एक महान दानव की भाँति हमें नष्ट करने के लिए, निगल जाने के लिए टूट पड़ेंगे। और यदि दुर्भाग्य से ऐसा हुआ तो विनाश के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं रह जाएगा। क्योंकि तोड़-फोड़ तथा ऊपर के वर्गों को घसीटकर नीचे उतारने के प्रयास से कभी समाज की उन्नति और देश का कल्याण नहीं हो सकता। भारत और उसके साथ विश्व के कल्याण का एकमात्र उपाय है––निम्न वर्ग के लोगों को ऊपर उठाना। उनकी उन्नति करना। स्वामीजी ने अपने 'भारत का भविष्य' व्याख्यान में कहा कि हमारे समाज का, देश का आदर्श है––'ब्राह्मणत्व'। भारत की कल्याण योजना की एक कड़ी है ब्राह्मण और

दूसरी है शूद्र । ब्राह्मण चोटी की कड़ी है और शूद्र सबसे नीचे की । देश की सर्वांगीण उन्नति का उपाय यह है कि इस शूद्र को ब्राह्मणत्व के पद पर उन्नीत करना होगा । उसे ऊपर उठाना होगा ।

ब्राह्मण कौन है ? क्या कोई जन्म से ब्राह्मण होता है ? चूँकि मेरे माता-पिता ब्राह्मण थे इसलिए क्या मैं भी ब्राह्मण हो गया । नहीं ! ब्राह्मण जन्म से नहीं, कर्म से होता है । अपरिग्रही होना ब्राह्मण का आदर्श है । वह धन का संचय नहीं करेगा । वह तपस्वी होगा । उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य होगा——आध्यात्मिक ज्ञान और विद्या का संचय करना तथा निःशुल्क वितरण करना; अपने आचरण तथा जीवन से यह दिखा देना कि ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना, ईश्वर का दर्शन करना ही मानव जीवन का उद्देश्य है ।

मनुष्य जीवन का उद्देश्य भोग कभी नहीं हो सकता । यह धारणा कि इन्द्रियों की भोग्य वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध करा देने पर, जीवन की समस्या का समाधान हो जायेगा, पूर्णतः भ्रान्त है । वर्तमान विश्व के सम्पन्न देश इस तथ्य के ज्वलन्त उदाहरण हैं । पिछले लगभग सौ वर्षों में अमेरिका, इंग्लैंड, फ्रांस तथा हाल ही में जापान ने यह चेष्टा की है कि उन देशों के नागरिकों को हर प्रकार की भौतिक-सुख सुविधाएँ उपलब्ध करायी जायँ । इस प्रयास में वे पर्याप्त मात्रा में सफल भी हुए हैं । किन्तु उसका परिणाम जो हमारे सामने है, वह तो प्रज्वलित अग्नि में घी डालने के समान ही है । जीवन की समस्या के समाधान के स्थान पर आज इन देशों ने विश्व को विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है । संसार

को यदि विनाश से बचाना है तो भारतीय जीवनादर्श की पुनर्प्रतिष्ठा ही इसका एकमात्र उपाय है।

भारत के इन उपेक्षित, दीन-हीन एवं निर्धन जनता के प्रति हम तथाकथित शिक्षित तथा सम्पन्न लोग यदि सहानुभूति न दिखा सके, उनके प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन न कर सके तो वह दिन दूर नहीं जब भारत का यह विशाल किन्तु उपक्षित निम्न वर्ग भोगवादी आदर्श के प्रति आकृष्ट हो उन्मत्त हो उठेगा और तथाकथित शिक्षित और सम्पन्न उच्च वर्ग को छिन्न-भिन्न कर उनका विनाश कर डालेगा।

अतः धनिकों का यह कर्त्तव्य है कि जिस समाज से उन्हें धन मिला है, उसे उसी की सेवा में अर्पित करें; जनसाधारण की दरिद्रता को दूर करने का सक्रिय प्रयास करें, अपने धन से दरिद्रनारायण की पूजा और उपासना करें। जो लोग शिक्षित हैं, विद्वान् हैं, वे अपनी शिक्षा तथा विद्या के द्वारा अशिक्षित भाइयों की सेवा करें। उन्हें शिक्षा दें। उन्हें विद्यादान करें। अपनी अर्जित विद्या द्वारा 'मूर्खनारायण' की पूजा और उपासना करें।

यह उपासना, यह सेवा कहाँ से प्रारम्भ हो ? हम जहाँ रह रहे हैं, अभी हमारी सेवा का वही उपयुक्त क्षेत्र है। उसी स्थान से नारायण सेवा का यह यज्ञ प्रारम्भ करना होगा। हमें स्मरण रखना चाहिए कि हमारा जन्म जगत्-उद्धार के लिए नहीं हुआ है। हमें तो ओस की बूंद की भाँति अज्ञात-अख्यात रहकर अपना कर्त्तव्य किये जाना होगा। उद्धार का कार्य तो केवल ईश्वर ही करते हैं। इस सेवा के द्वारा हम ईश्वर की कृपा के पात्र हो सकेंगे तथा इसी से हमारा उद्धार भी होगा। यही हमारी उपलब्धि होगी।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के चालीस वर्षों पश्चात् भी आज जनसाधारण में छुआ-छूत, ऊँच-नीच जातियों का भेद, अस्पृश्य कहे जाने वाले हमारे भाइयों के प्रति अत्याचार आदि रोग जड़ें जमाये बैठे हैं । हमारी यह धारणा हो गयी है कि राजनीति के द्वारा इस समस्या का समाधान हो जायगा । हमे यह विशेष रूप से स्मरण रखना होगा कि लोकसभा या विधानसभाओं में कानून बना कर जनमानस को नहीं बदला जा सकता । स्वामीजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि केवल राजनीति के द्वारा हमारी समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता । इसका प्रत्यक्ष प्रभाव यही है कि राजनैतिक दासता चालीस वर्षों पूर्व चली गयी किन्तु हमारी समस्याएँ जटिलतर होती जा रही हैं । छुआ-छूत तथा अस्पृश्यता की समस्या का समाधान स्वामी विवेकानन्दजी द्वारा दिये गये जीवन-दर्शन मे ही सम्भव है, और वह यह है कि प्रत्येक जीव अव्यक्त ब्रह्म है, अतः प्रत्येक मनुष्य के भीतर——हृदय में, ईश्वर विराजमान हैं । इस दृष्टि से सभी मनुष्य समान हैं । कोई नीच नहीं है, कोई अछूत नहीं है । इस तथ्य को ध्यान में रखकर सभी की उन्नति में सहायक होने की चेष्टा करनी होगी । पहले स्वयं अपने मन से छुआ-छूत, ऊँच-नीच की भावना को निकाल फेंकना होगा तथा अस्पृश्य कहे जाने वाले भाइयों के प्रति सहृदयता का व्यवहार करते हुए जनसाधारण में इस तथ्य का प्रचार करना होगा । इसी उपाय से छुआ-छूत की समस्या का समाधान होगा ।

जनसाधारण की उन्नति का एक महान सूत्र स्वामीजी ने दिया है, वह है स्त्री-शिक्षा तथा स्त्रियों की उन्नति की योजना । स्त्रियों की दुर्दशा किसी भी समाज के पतन

का एक बहुत बड़ा कारण है, अतः हमें स्त्रियों की उन्नति और शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी । उसमें सहायक होना होगा । किन्तु यह भी स्मरण रखना होगा कि स्त्रियों को उचित शिक्षा स्त्रियाँ ही दे सकती हैं । उनकी उन्नति की सही योजना वे ही बना सकतीं हैं । हम पुरुषों को उनके कार्य में सहायक मात्र ही होना है। उनके कार्यों का भार उन लोगों पर ही रहेगा । माँ श्री सारदा देवी इस युग में नारी-जीवन के सर्वांगीण पूर्ण आदर्श के रूप में अवतरित हुई थी । उनके जीवन और उपदेशों के अनुसार महिलाओं को अपना जीवन गठन करने की प्रेरणा देनी होगी ।

अन्तिम बात यहाँ उपस्थित युवक भाइयों से कहूँ । आप हम सब जिन्होंने स्वामी विवेकानन्द को अपना जीवनादर्श चुना है, उन्हें यह स्वीकार करना होगा कि राजनीति हमारे समाज की मौलिक समस्याओं को हल नहीं कर सकती । हमारी समस्याओं के समाधान का, हमारी उन्नति का उपाय है, समाज के निम्नतर लोगों को ऊँचा उठाना, उन्हें शिक्षा देना, उन्हें व्यक्तित्ववान बनाना, तथा इस कार्य का दायित्व आपको और हमें अपने कन्धों पर लेना होगा । सम्भव है आज हमारी संख्या कम हो, किन्तु यह विश्वास रखें कि जो व्यक्ति पवित्र तथा निःस्वार्थ होकर दूसरों की सेवा के लिए अग्रसर होते हैं, ईश्वर सदैव उनके साथ रहते हैं तथा अल्पसंख्यक होकर भी ईश्वरीय शक्ति के बल पर वे लोग महान कार्य करने में समर्थ होते हैं । ईश्वर हम सबको शक्ति दें, सद्बुद्धि दें--इसी प्रार्थना के साथ मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ । धन्यवाद !

○

श्री हनुमान का आदर्श और स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विदेहात्मानन्द

कलकत्ता नगरी के उत्तर की ओर कुछ मील दूर स्थित दक्षिणेश्वर नामक ग्राम में रानी रासमणि नामक एक धनाढ्य महिला ने एक विशाल कालीबाड़ी का निर्माण कराया। १८५५ ई. में मन्दिर की प्राणप्रतिष्ठा हुई और तरुण श्रीरामकृष्ण मन्दिर में पूजा आदि के कार्य स्वीकार कर वहाँ निवास करने लगे। धीरे-धीरे वे विविध प्रकार की साधनाओं में इतने तन्मय हो गये कि उनसे पूजा आदि का कार्य होना असम्भव हो गया। भावमुख की अवस्था में उन्हें जगदम्बा के चिन्मय रूप का दर्शन हुआ और तदुपरान्त उनका चित अपने कुलदेवता रघुवीर की ओर आकृष्ट हुआ। यह सोचकर कि हनुमान जी के समान अनन्य भक्ति के द्वारा ही श्री रामचन्द्र का दर्शन हो सकता है वे स्वयं में महावीरजी के भाव का आरोप कर दास्य भाव की साधना में अग्रसर हुए। निरन्तर हनुमानजी का चिन्तन करते-करते वे उसी आदर्श में इतने तन्मय हो गये कि कुछ काल के लिये उन्हें अपने स्वतन्त्र अस्तित्व एवं व्यक्तित्व तक का बोध विस्मृत हो गया। उन दिनों उनके आहार-विहार आदि सभी कार्य हनुमानजी के समान ही हुआ करते थे। वे इच्छापूर्वक ऐसा नहीं करते थे, बल्कि अपने आप ही उनका आचरण वैसा हो जाता था। पहनने के वस्त्र वे पूंछ की भाँति लपेटकर अपनी कमर में बाँध लेते, उछल-कूदकर चलते, छिलके सहित फल आदि के अतिरिक्त और कुछ भी न खाते और अधिकाँश समय वृक्ष पर बैठे गम्भीर

स्वर में निरन्तर 'रघुवीर' 'रघुवीर' कहकर पुकारते रहते। परन्तु उनकी यह लीला तो केवल साधकों के समक्ष आदर्श स्थापन के लिए थी क्योंकि बाद में उन्हें ऐसी भी अनुभूति हुई कि त्रेता युग में उन्होंने स्वयं ही दशरथनन्दन श्रीराम के रूप में अवतार ग्रहण किया था।

श्रीरामकृष्ण की मर्त्यभूमि लीला का अन्तिम पर्व। काशीपुर के उद्यान भवन में शिष्यवृन्द उनकी सेवा में तल्लीन हैं। एक दिन नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) वहीं पर बैठे-बैठे विचार कर रहे थे—"ये गले के कैंसर रोग से इतना कष्ट उठा रहे हैं; इस पर भी यदि ये अपने आपको अवतार कहते तभी मैं विश्वास कर पाता।" यह विचार उनके मन में कौंधने भर की देरी थी कि श्रीरामकृष्ण अपनी क्षीण काया में ही उनकी ओर उन्मुख होकर बोल उठे—"अब भी अविश्वास! जो राम के रूप में आये थे, जो कृष्ण के रूप में आये थे, वे ही इस बार रामकृष्ण के रूप में आये हैं; पर हाँ, तेरे वेदान्त की दृष्टि से नहीं।"

उसी क्षण से स्वामी विवेकानन्द के मन में श्रीरामकृष्ण के अवतारत्व के बारे में श्रद्धा चिरस्थायी हो गयी। परवर्ती काल में उन्होंने जब श्रीरामकृष्ण पर एक स्तोत्र की रचना की तो उसमें उन्होंने अपने गुरुदेव की श्रीराम के रूप में भी वन्दना की है—

आचण्डाल प्रतिहतरयो यस्य प्रेमप्रवाहः
लोकातीतोऽप्यहह न जहौ लोककल्याणमार्गम्।
त्रैलोक्येऽप्यप्रतिममहिमा जानकी प्राणबन्धः।
भक्त्या ज्ञानं वृतवरवपुः सीतया यो हि रामः
सोऽयं जातः प्रथितपुरुषो रामकृष्णस्त्विदानीम्॥

—जिनके प्रेम का प्रवाह चाण्डाल तक के प्रति अबाध गति से बहता था, मनुष्य स्वभाव से अतीत होकर भी जिन्होंने जगत् के कल्याण का मार्ग नहीं छोड़ा, स्वर्ग से लेकर पाताल तक तीनों लोकों में जिनकी महिमा अतुलनीय है, जो जानकीजी के परम प्रेमास्पद थे, जिन ज्ञानस्वरूप श्री रामचन्द्र की श्रेष्ठ देह भक्तिरूपिणी श्री सीता द्वारा आवृत्त थी।....उन्हीं विख्यात परमपुरुष ने इस युग में 'रामकृष्ण' के रूप में जन्म लिया है ।

लगभग १८६८ ई. की एक और घटना ।

कलकत्ता के ही किसी मकान में रामायण की कथा हो रही थी । बहुत से लोग बैठे एकाग्र चित्त से श्रवण कर रहे थे । उन्हीं में पाँच-छह वर्ष का एक बालक भी बैठा हुआ था । कथा सुनते-सुनते वह बीच बीच में अपनी निगाह फिराकर इधर-उधर देख लेता था, क्योंकि उसने सुन रखा था कि जहाँ कहीं भी रामकथा होती है वहाँ भक्तराज हनुमान छद्मवेश में उपस्थित रहा करते हैं । इस अल्प वय में ही उसने माँ से सुन-सुनकर रामायण की पूरी कथा कण्ठस्थ कर ली थी । मुहल्ले में जहाँ कहीं भी रामायण की कथा होती अथवा रामलीला का आयोजन होता, तो वह खेलकूद को तिलाँजलि देकर निश्चित समय पर वहाँ पहुँच जाता । एक बार एक गायक रामचरित गाते-गाते बीच में ही अटक गये । उन्हें कुछ अंश भूल गया था । बालक ने झट से उन्हें उस अंश का स्मरण करा दिया ।

एक दिन उसने कथावाचक महोदय से सुना कि हनुमानजी कदलीवन में निवास करते हैं । उसके घर के पास ही केले का एक उद्यान था और मन में हनुमानजी का दर्शन करने की तीव्र उत्कण्ठा थी । वह उसी संध्या के समय उस

बगीचे में चला गया और केले के एक पेड़ के नीचे बैठकर पवनपुत्र की बाट जोहने लगा . रात हो जाने पर भी जब वह घर नहीं लौटा तो परिवार के लोग उसे ढूँढने निकल पड़े । काफी रात गये बालक निराश मन से घर लौटा । उस समय तो उस बालक को हनुमानजी का पता नहीं मिला, परन्तु परवर्ती काल में स्वामी विवेकानन्द के रूप में उसे पता चला कि वह स्वयं ही हनुमान है । यह बात आगे चलकर स्पष्ट हो जाएगी ।

हमने देखा कि स्वामीजी ने भगवान श्रीरामकृष्ण को श्री राम के अवतार के रूप में स्वीकार किया है; अत. यह स्वाभाविक ही था कि उनकी सहधर्मिणी श्रीसारदा देवी को भी वे जनकनन्दिनी सीता का प्रतिरूप मानते ।

किसी रामायण में ऐसी कथा है : लंका विजय के पश्चात् जब माता जानकी लौटकर आयीं तो मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम जनसमाज को सन्तुष्ट करने के लिए उनकी अग्नि परीक्षा लेने का विचार करने लगे । हनुमानजी ने ज्योंही यह बात सुनी, वे बड़े क्रोधित हो उठे । जनकनन्दिनी के प्रति उनका भक्तिभाव इतना प्रबल था कि उनका इस तरह अपमान होते देखकर वे रामजी से भी युद्ध करने को प्रस्तुत हुए और गरज उठे, "को रामः ?"

सम्भवतः इसी कथा को ध्यान में रखकर स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका से अपने गुरुभाइयों को लिखे एक पत्र में माँ श्रीसारदादेवी की महिमा का इन शब्दों में वर्णन किया था—"माँ क्या वस्तु हैं, अब तक तुम लोग समझ नहीं सके हो । कोई भी नहीं समझ सका है । धीरे धीरे समझोगे ।. . .मेरे लिए माँ की कृपा बाप की कृपा स लाखों गुनी मूल्यवान है । भाई, बहुधा जब मुझे माँ की याद

आती है तो मैं कह उठता हूँ, 'को रामः ?' क्षमा करना, माँ के बारे में मैं थोड़ा कट्टर हूँ । माँ का आदेश हो तो उनके भूत-प्रेत सब कुछ कर सकते हैं । अमेरिका आने के पहले मैंने माँ से आशीर्वाद माँगते हुए एक पत्र लिखा था । उनका आशीर्वाद मिला और मैं हुप करके समुद्र पार हो गया ।"

फिर अमेरिका और यूरोप में हिन्दू संस्कृति की विजय-पताका फहराने के बाद स्वदेश लौटने पर स्वामीजी श्री सारदादेवी को प्रणाम करने गये और बोले, "माँ, तुम्हारी कृपा से इस बार मुझे छलाँग लगाकर समुद्र नहीं लाँघना पड़ा, बल्कि मैं उन्हीं के बनाये जहाज में बैठकर उनके देश गया ।"

जब स्वामीजी कुछ वर्षों बाद पुनः पाश्चात्य देशों की यात्रा पर गये तो उन्होंने 'उद्‌बोधन' मासिक में प्रकाशनार्थ अपनी उस यात्रा का वृत्तान्त लिख भेजा था । मद्रास से जब उनका जलयान लंका की ओर अग्रसर होता है तो उन्हें हनुमानजी का स्मरण हो आता है, जिन्होंने युगों पूर्व इसी समुद्र को पार किया था । वे अपनी दैनन्दिनी में लिखते हैं—"उन्होंने सौ योजन समुद्र एक ही छलाँग में में पार किया था और हम लोग काठ के कोठे में बन्द, उथल-पुथल करते हुए, थुन्नियाँ पकड़कर अपनी स्थिरता कायम रखते हुए समुद्र पार करते हैं । लेकिन एक मर्दानगी जरूर है—उन्होंने लंका पहुँचकर राक्षस और राक्षसियों के चन्द्रानन देखे थे और हम लोग राक्षस-राक्षसियों के दल के साथ जा रहे हैं ।"

●

अमेरिका में अपने पाश्चात्य श्रोताओं के समक्ष 'भक्तियोग' विषय पर बोलते समय एकाग्रता एवं इष्ट-

निष्ठा समझाने के लिए स्वामीजी बहुधा हनुमानजी के जीवन के कुछ दृष्टान्त दिया करते थे। उनके प्रकाशित ग्रन्थों से कुछ स्थल प्रस्तुत हैं—"भक्तश्रेष्ठ हनुमान से एक बार पूछा गया था, 'आज महीने की कौन सी तिथि है?' उन्होंने उत्तर दिया था, 'राम ही मेरे संवत्, तिथि आदि सब कुछ है। मैं और कोई तिथि नहीं जानता।"

"इष्टनिष्ठा का भाव प्रकट करने के लिए एक अत्यन्त काव्यात्मक और सशक्त उदाहरण है, और इतनी सुन्दर उपमा शायद ही पहले कभी दी गयी है। साधक के लिए आरम्भिक दशा में यह एकनिष्ठा अत्यन्त आवश्यक है। हनुमानजी के समान उसे भी यह भाव रखना चाहिए—

श्रीनाथे जानकीनाथे अभेदः परमात्मनि।
तथापि मम सर्वस्वः राम कमललोचनः॥

——यद्यपि परमात्मदृष्टि से लक्ष्मीपति और सीतापति दोनों एक हैं, तथापि मेरे सर्वस्व तो वे ही कमललोचन श्रीराम हैं।'

फिर देहबोध और आत्मबोध के प्रसंग में स्वामीजी कहते हैं—"हमें शरीर के साथ तादात्म्यभाव न रखना चाहिए, अपितु उसे केवल एक साधन के रूप में देखना चाहिए, जिसका पूर्णता प्राप्त करने में उपयोग किया जाता है। श्री रामभक्त हनुमानजी ने इन शब्दों में अपने दर्शन का सारांश कहा है,

देहबुद्ध्या तु दासोऽहं जीवबुद्ध्या त्वदंशकः।
आत्मबुद्ध्या त्वमेवाहं इति मे निश्चिता मतिः॥

——मैं जब देह से अपना तादात्म्य करता हूँ तो मैं आपका दास हूँ, आपसे सदैव पृथक् हूँ। जब मैं अपने को जीव समझता हूँ, तो उसी दिव्य प्रकाश या आत्मा की चिनगारी हूँ जो कि आप हैं। किन्तु जब मैं अपने को आत्मा से तदाकार करता हूँ तब मैं और आप एक ही हो जाते हैं।"

अमेरिका के पैसाडेना नामक स्थान पर स्वामीजी ने 'रामायण' पर एक सुन्दर व्याख्यान दिया था, जिसमें वे श्री हनुमान का वर्णन इस प्रकार करते हैं—"दीर्घकाल तक वन-वन भटकते रहने के पश्चात् उनकी (भगवान श्री राम की) एक 'वानर-यूथ' से भेंट हुई। इन्हीं वानरों में देवांशसम्भूत हनुमान थे। कालान्तर में ये ही वानरश्रेष्ठ हनुमान श्री राम के अनन्य सेवक बन गये और सीता के उद्धार में उनकी विशेष सहायता की। श्री राम के प्रति हनुमान की भक्ति एवं श्रद्धा इतनी अनन्य थी कि आज भी हिन्दू उन्हें परम गहन सेवा-धर्म के आदर्श और प्रभु के अप्रतिम सेवक की भाँति पूजते हैं।"

एक बार वार्तालाप के दौरान उन्होंने कहा—"कल्पना करो कि कोई हनुमान की भक्तिभावना से ईश्वर की साधना कर रहा है और हनुमान का जैसा भगवान पर भक्तिभाव था, वैसे ही भक्तिभाव को उसने ग्रहण किया है। जितना ही वह भाव गाढ़ा होगा, उस साधक की चाल-ढाल, यहाँ तक कि शरीर की गठन भी तद्रूप होती जाएगी।"

अमेरिका से लौटने के पश्चात् दक्षिण भारत के रामनाद नामक स्थान में स्वामीजी ने एक सम्भाषण के दौरान रामायण के पात्रों का एक रूपक प्रस्तुत किया था, जिसमें उन्होंने श्रीराम को परमात्मा, श्री सीता को जीवात्मा और प्रत्येक स्त्री या पुरुष के शरीर को लंका माना है। शरीर में बद्ध जीवात्मा मानो लंकाद्वीप में बन्दी है और सदा श्री राम से मिलने को आकुल है। लेकिन राक्षस ऐसा होने नहीं देते। विभीषण हैं सत्त्वगुण; रावण रजोगुण; और कुम्भकर्ण तमोगुण। ये गुण शरीर रूपी लंका में बन्दिनी सीता को यानी जीवात्मा को परमात्मा

श्री राम से मिलने नहीं देते। बन्दिनी सीता जब अपने स्वामी से मिलने को आतुर होती है, तो उन्हें गुरुरूपी हनुमान मिलते हैं, जो ब्रह्मज्ञानरूपी मुद्रिका उन्हें दिखलाते हैं और उसके पाते ही सीता के सारे भ्रम दूर हो जाते हैं। इस प्रकार सीता श्री राम से मिलने का मार्ग पाती हैं, या फिर दूसरे शब्दों में जीवात्मा परमात्मा के साथ एकाकार हो जाती है। उपरोक्त रूपक में हम देखते हैं कि स्वामीजी ने श्री हनुमान को गुरु का उच्च आसन प्रदान किया है, जो जगत् के जीवों को परमात्मा से मिलाने का महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित करते हैं।

●

स्वामी विवेकानन्द और श्री हनुमान के जीवन की कुछ घटनाओं में सादृश्य भी दृष्टिगोचर होता है। जैसे महावीरजी अपने स्वामी भगवान श्री रामचन्द्र का सन्देश तथा मुद्रिका लेकर समुद्र-पार लंका गये थे, वैसे ही स्वामीजी भी अपने गुरुदेव भगवान श्रीरामकृष्ण का सन्देश लेकर समुद्र-पार अमेरिका गये थे। हनुमानजी का लंका जाने का उद्देश्य था—जनकनन्दिनी सीता माता को मुक्त कराना और अपने प्रभु की महिमा का विस्तार करना। दूसरी ओर स्वामीजी के विदेश जाने का उद्देश्य था—भारत माता को पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त कराना और समग्र विश्व में हिन्दू धर्म की महिमा को प्रतिष्ठित करना। इसीलिए श्री रामकृष्ण के एक गृही शिष्य नाग महाशय उन्हें साक्षात् महावीर कहकर सम्मानित करते थे।

युगों से भारतवासियों की नसों में सत्वगुण का रक्त संचरित हुआ करता था। परन्तु कालचक्र की अधोगति के कारण हमें विगत अनेक शताब्दियों तक विजातियों की गुलामी में रहना पड़ा और इसके फलस्वरूप भारतीयजन-

जीवन घोर तमोगुण से आच्छन्न हो गया,शारीरिक दुर्बलता, आत्मविश्वास का अभाव और कर्म में अरुचि-ये ही तो तमोगुण के लक्षण हैं। कर्महीनता के फलस्वरूप हमारी प्रगति के मार्ग अवरुद्ध पड़े हैं। स्वामीजी कहते थे कि त्याग और सेवा ही हमारे चिरन्तन आदर्श हैं, इनकी यदि पुन:स्थापना हो सके तो भारत की उन्नति अपने आप ही हो जाएगी। इसके साथ ही वे भारत के नवयुवकों में बल, पौरुष, साहस, आत्मविश्वास, आज्ञापालन,इच्छा-शक्ति, दृढ़ निष्ठा, विवेक बुद्धि आदि सद्‌गुणों का भी संचार कर देना चाहते थे। श्रीहनुमान के चरित्र में स्वामीजी को इन समस्त गुणों की एक सजीव प्रतिमूर्ति मिल गयी थी, इसीलिए वे महावीरजी के आदर्श जीवन पर चर्चा करते हुए कभी थकते नहीं थे। कभी कभी तो वे उन पर बोलते हुए आवेश में आ जाते और मठ में हनुमानजी की प्रस्तर-प्रतिमा लाकर स्थापित करने का संकल्प लेते।

एक बार स्वामीजी ने कहा, "अब देश को उठाने के लिए महावीर की पूजा चलानी होगी, शक्ति की पूजा चलानी होगी, श्री रामचन्द्र की पूजा घर घर में करनी होगी। तभी तुम्हारा और देश का कल्याण होगा। दूसरा कोई उपाय नहीं।" बेलूड़ मठ में निवास करते समय एक दिन जब उनके शिष्य शरत्‌चन्द्र ने प्रश्न किया, "हमारे लिए इस समय किस आदर्श को ग्रहण करना उचित है?" तब उत्तर में स्वामीजी ने जिन शब्दों में हनुमानजी के महान चरित्र को अपनाने की सलाह दी, वे बड़े ही मर्मस्पर्शी हैं। उन्होंने कहा—"महावीर के चरित्र को ही इस समय आदर्श मानना पड़ेगा। देखो न, वे राम की आज्ञा से समुद्र लाँघकर चले गये! जीवन-मृत्यु की परवाह कहाँ?

महाजितेन्द्रिय, महाबुद्धिमान, दास्य भाव के इन महान् आदर्श से तुम्हें अपना जीवन गठित करना होगा। वैसा करने पर दूसरे भावों का विकास स्वयं ही हो जायेगा। दुविधा छोड़कर गुरु की आज्ञा का पालन और ब्रह्मचर्य की रक्षा—यही है सफलता का रहस्य। 'नान्यः पन्था विद्यते ऽयनाय'—अवलम्बन करने योग्य और कोई पथ नहीं। एक ओर हनुमानजी के जैसा सेवाभाव और दूसरी ओर उसी प्रकार त्रैलोक्य को भयभीत कर देने वाला सिंह जैसा विक्रम! राम के हित के लिए जीवन तक विसर्जित कर देने में उन्होंने कभी जरा भी संकोच नहीं किया। राम की सेवा के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों के प्रति उपेक्षा, यहाँ तक कि ब्रह्मत्व, शिवत्व प्राप्ति के भी प्रति उपेक्षा। केवल रघुनाथ के उपदेश का पालन ही जीवन का एकमात्र व्रत—उसी प्रकार एकनिष्ठ होना चाहिए।" प्रत्येक भारतवासी को और विशेषकर नवयुवकों को स्वामीजी के इन महान् शब्दों पर मनन करना चाहिए और साथ ही इन शब्दों पर भी—"महावीर का स्मरण किया कर, . . . देखेगा, सब दुर्बलता, सारी कापुरुषता उसी समय चली जायगी।" लेखक का मत है कि प्रत्येक विद्यालय में हनुमानजी का एक मन्दिर हो और उससे संलग्न एक आधुनिक व्यायामशाला हो। सुदृढ़ शरीर का निर्माण भी शिक्षा का ही एक महत्वपूर्ण अंग माना जाय, तभी स्वामी विवेकानन्द द्वारा इच्छित और महावीरजी द्वारा अपने जीवन में प्रदर्शित ब्रह्मचर्य, बल, तेज, साहस, आत्मविश्वास, त्याग, सेवा, भक्ति, विवेक तथा आज्ञापालन आदि सद्‌गुणों का बाल तथा युवा पीढ़ी में प्रचार होगा और इस प्रकार भारत अपने खोये हुए वैभव को पुनः प्राप्त कर सकेगा।

माँ के सान्निध्य में (२५)

स्वामी ईशानानन्द

(प्रस्तुत संस्मरणों के लेखक माँ सारदादेवी के शिष्य थे। मूल बंगला ग्रन्थ 'श्री श्री मायेर कथा' के द्वितीय भाग से इसका अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं।—स.)

छः महीने हुए राधू की सन्तान हुई है किन्तु वह कमजोरी के कारण उठकर खड़ी नहीं हो पाती है। बैठे बैठे ही वह घूमती-फिरती है। फिर उसे बहुत अफीम खाने की आदत भी पड़ गयी है। इधर माँ का शरीर भी ठीक नहीं है। बीच बीच में उन्हें बुखार हो आता है। वे राधू का अफीम खाना कम करने की कोशिश कर रही हैं। इसे लेकर राधू सब समय जिद करती रहती है। उस दिन सबेरे माँ तरकारी काट रही थीं कि राधू अफीम के लिए आकर बैठ गयी। माँ ने भाँपकर कहा, "राधी, और क्यों? अब उठकर खड़ी हो। तुझ को लेकर अब चल पाना मुश्किल है। तेरे लिए मेरा धर्म, कर्म सब चला गया। इतना सब खर्च मैं कहाँ से जुटाऊँ, बोल तो सही?" ये सब बातें माँ मृदु रोष के स्वर में बोल रही थी कि राधू ने गुस्से म भरकर पास की टोकरी से एक बड़ा सा बैंगन उठाकर माँ की पीठ पर जोरों से फेंककर मारा। उसकी गुम करके आवाज होने से मैंने देखा कि माँ की पीठ झुक गयी है तथा चोटवाला स्थान फूल उठा है। माँ ने ठाकुर की ओर देखकर हाथ जोड़कर कहा, "ठाकुर, उसका अपराध न लेना। वह अबोध है।" उन्होंने अपनी चरण धूलि लेकर राधू के माथे पर लगायी और बोलीं, "राधी, इस शरीर को ठाकुर ने किसी दिन एक कठोर वाक्य भी नहीं कहा और तू इतना कष्ट दे रही है! क्या तू समझ पायेगी कि मेरा स्थान कहाँ

है ? तुम लोगों को लेकर पड़ी हुई हूँ इसलिए तुम लोगों ने क्या समझ रखा है, बोल तो सही ?" राधू तब रो उठी।

इस घटना के कुछ दिन बाद एक दिन छोटी मामी (राधू की पगली माँ) अपने मन की सनक में अपने दामाद मन्मथ को इधर उधर यहाँ तक कि तालाब में उतर कर खोजने लगी और उसे न पाकर यह ठीक कर लिया कि वह पानी में डूब गया। बाद में उसने सोचा कि यह सब ननदजी का काम है; तब वह दौड़ी हुई माँ के पास आयी और भीगे कपड़ों में माँ के पैरों में गिरकर व्याकुल हो रोती हुई कहने लगी, "ओ ननदजी, मेरा दामाद बाँड़ुज्ये तालाब में डूब गया। अब क्या होगा ?" माँ अचानक यह सुनकर हम लोगों को पुकारकर कहने लगीं, "तुरन्त आओ, पगली क्या कह रही है सुनो।" और वे व्यग्र हो उठीं। हम लोग दौड़कर आये। हरि ने कहा, "मन्मथ तो बनिये की दूकान में ताश खेल रहा है, मैं देखकर आ रहा हूँ।" माँ ने कहा, "तुम तुरन्त दौड़कर जाओ और उसे खबर देकर अपने साथ ले आओ।" हम लोग तुरन्त ही मन्मथ को ले आये। उसे देखकर छोटी मामी हक्की बक्की रह गयी और क्रोध में बकती हुई चली गयी।

शाम को माँ तरकारी काटने बैठी थी कि अचानक छोटी मामी उनके पास बैठकर कहने लगी, "तुमने ही तो राधू को अफीम खिलाकर वश में कर रखा है। मेरे नाती और मेरी लड़की को मेरे पास आने नहीं देती हो।" माँ ने कहा, "ले जा न अपनी लड़की को, वहाँ तो पड़ी हुई है। मैंने क्या उसे छिपा रखा है ?" इसी प्रकार दो एक बात होते होते मामी का पागलपन चरम सीमा पर पहुँच गया। माँ को मारने के लिए वह जलती हुई लकड़ी लाने दौड़

पड़ी । माँ तब चीत्कार करके बोल उठी, "अरे कोई है, पगली ने मुझे मार डाला !" मैंने दौड़कर देखा, पगली प्राय: माँ के सिर पर लकड़ी मारने ही वाली थी । तुरन्त ही मैंने लकड़ी को दूर फेंककर मामी को सदर दरवाजे के बाहर कर दिया । क्रोध से काँपते हुए उसकी भर्त्सना करके मैंने उसे भीतर आने से मना कर दिया । माँ भी तब उत्तेजित होकर बोल उठीं, "पगली तू क्या करने जा रही थी ? तेरा वह हाथ गिर जायेगा ।" यह कहते ही माँ जीभ काटकर सिहर उठी । ठाकुर की ओर देखकर हाथ जोड़कर कहने लगी, "ठाकुर, मैंने यह क्या कर डाला ? अब उपाय क्या है ? मेरे मुँह से तो किसी दिन किसी के प्रति अभिशाप के वाक्य नहीं निकले थे, अन्त में वह भी हुआ ? और क्यों ?" माँ की अपार करुणा का भाव देखकर मैं स्तम्भित हो गया ।

कुछ माह पहले बंगलोर के श्री न--- कुछ दिनों की छुट्टी लेकर कोयलपाड़ा में माँ के पास थे । राधू के लिए माँ का खूब खर्च देखकर वे प्रत्येक माह माँ को काफी आर्थिक सहायता देते थे । जाते समय वे माँ से कह गये थे, "माँ खर्च आदि में जब भी अड़चन होगी मुझे निस्संकोच सूचित कीजियेगा ।" आजकल जयरामवाटी में खर्च बहुत बढ़ गया है । पूजनीय शरत् महाराज ने लिखा है कि समय पर रुपयों की व्यवस्था करके भेजने में देरी हो रही है । यह पत्र सुनकर माँ कहने लगी, "तब तो शरत् के हाथ में अधिक पैसा नहीं है, नहीं तो वह ऐसी बात क्यों लिखता ? न---उस दिन वह बात कह गया था । पर मैं उससे क्या कहकर रुपया माँगू ? ठाकुर क्या तुम्हारे अन्तिम आदेश की रक्षा नहीं कर पाऊँगी ? राधी, तेरे लिए मैं सब कुछ

खोने जा रही हूँ । ठाकुर ने कहा था, 'देखो किसी के सामने एक पैसे के लिए भी हाथ नहीं फैलाना । तुम्हारे मोटे भात -कपड़े का अभाव नहीं रहेगा । एक पैसे के लिए भी यदि किसी के सामने हाथ फैलाओगी तो उसके पास तुम्हारा सिर गिरवी हो रहेगा । पर फिर भी दूसरे के छप्पर के नीचे रहने की अपेक्षा दूसरे की सहायता लेकर रहना अच्छा है । इसलिए तुम्हें भक्त लोग जो जहाँ हैं, भले ही अपने घर में सम्मान के साथ क्यों न रखें, कामारपुकुर के अपने मकान को कभी नष्ट न करना ।"

मनसा नाम का एक लड़का माँ के पास आया । उसको माँ से दीक्षा और गेरुआ वस्त्र लेने की बड़ी इच्छा है । म ने भी आनन्दपूर्वक उसे वह प्रदान किया । उसने बड़ आनन्दित होकर संध्या के समय काली मामा के बैठकखाने में बैठकर, "आर किछु नाइ संसारेर माझे, केवल श्यामा सार रे" (और नहीं कुछ इस जगत में सार श्यामा माँ के सिवाय) तथा "मन छाँचे तोमारे फेले श्यामा" (मन रूपी साँचे में तुम्हें ढाल दूँ श्यामा) —ये दोनों गाने गाये । माँ को बहुत अच्छा लगा । उनके पास बैठकर, राधू, माकू, नलिनी, मामी लोग तथा और भी अनेक लोग गाना गा रहे थे । मामियों में से एक ने कहा, "ननदजी ने इस लड़के को साधु बना दिया ।" माकू ने उसमें हाँ मिलाते हुए कहा, "ठीक तो, बुआ का कैसा काम ! ऐसे अच्छे अच्छे लड़कों को साधु बना दे रही हैं । माँ-बाप ने कितनी आशा के साथ कष्ट सहकर उसे लिखा-पढ़ाकर बड़ा किया, उनकी सारी आशा नष्ट हो गयी । अब ये या तो ऋषिकेश जाकर भिक्षा माँगकर खायेंगे अथवा रोगी की सेवा में मल मूत्र उठायेंगे । विवाह करना—यह भी तो एक संसार धर्म है । तुम यदि

इस प्रकार साधु बनाती रहोगी तो महामाया तुम्हारे ऊपर रुष्ट हो जायेंगी। साधु होना हो तो वह खुद बने। बुआ, तुम उसमें स्वयं को निमित्त क्यों बनाती हो?" माँ तब कहने लगीं, "माकू, वे लोग सब देवशिशु हैं। संसार में फूल के समान होकर रहेंगे। इससे बढ़कर सुख भला क्या है, बनाओ तो सही? संसार में क्या सुख है वह तो देख ही रही हो। पति-सुख भी तुमने देख लिया। अब भी पति के पास जाते तुम्हें लज्जा नहीं आती? इतने दिनों तक मेरे पास रहकर क्या देखा? इतना आकर्षण और पशु भाव क्यों? क्या सुख मिलता है तुम्हें? फिर से यदि पति के पास गयी तो यहाँ से दूर कर दूँगी। पवित्र भाव की धारणा क्या तुम लोगों को सपने में भी नहीं हो पाती? अब भी क्या भाई, बहन के समान रह नहीं पाती? केवल सुअर के समान रहना चाहती हो? तुम लोगों की संसार-ज्वाला में तो मेरी हड्डियाँ जल गयीं।"* सभी ने लज्जा से सिर झुका लिया।

माँ पुनः कहने लगीं, "भगवान को पुकारे या न पुकारे, जिससे विवाह नहीं किया वह तो अर्धमुक्त हो ही गया। जब भगवान में उसका मन थोड़ा भी जायेगा उस समय वह तेजी से बढ़ता जायेगा। जिनका महापाप होता है वे ही विवाह करके संसारी होते हैं। भगवान में मन होने पर भी किसी प्रकार उठ नहीं पाते हैं। हाथ पैर सब बंध जाते हैं।"

आजकल प्रायः रोज ही माँ को ज्वर रहता है। शरीर बहुत दुर्बल होता जा रहा है। पूज्यनीय शरत् महाराज

* इसके कुछ दिन पहले ही माकू के एक छोटे बच्चे की मृत्यु हुई थी तथा हाल में उसका एक पुत्र हुआ है। राधू तब भी अस्वस्थ थी।

माँ को शीघ्र कलकत्ता ले जाने के लिए प्रयत्नशील हैं। किन्तु वे विशेष कार्य से काशी गये हैं। उसी समय माँ को कलकत्ते जाने की बात कहने पर उन्होंने कहा, "शरत् के कलकत्ते में न रहने पर मेरी वहाँ जाने की बात ही नहीं उठ सकती। किसके पास जाऊँगी? मैं वहाँ रहूँ और यदि शरत् बोले, 'माँ, मैं कुछ दिन के लिए बाहर जा रहा हूँ' तो मैं कहूँगी, 'बेटा, जरा रुक जाओ, आगे मुझे यहाँ से पैर बढ़ाने दो, फिर तुम जाना।' शरत् के सिवाय मेरा झमेला और कौन सहेगा?"

शीतकाल का समय था। माँ का शरीर अत्यन्त अस्वस्थ होने पर भी वे पूर्व अभ्यास के अनुसार ३ बजे उठकर प्रातःकृत्य से निवृत्त हो जातीं और बिस्तरे पर अपने को रजाई से ढँक कर कुछ देर बैठतीं और फिर सो जातीं। उस समय हम लोग उनके कमरे में जाकर दरवाजा बन्द कर अँधेरे में चुपचाप बैठे रहते। माँ कभी कहतीं, "इस समय, इस देवता के मंत्र को इस प्रकार जप करो तो सही," इत्यादि। कुछ देर बाद प्रसंग उठा कि हमारे साधु लोग अस्वस्थ होने पर गृहस्थों के घर जाकर रहते हैं। माँ ने कहा, "बीमार हुआ है इसलिए संन्यासी गृहस्थ के घर में क्यों रहेगा? उसके लिए मठ है, आश्रम है। संन्यासी त्याग का आदर्श है। लकड़ी की स्त्री मूर्ति भी यदि रास्ते में उल्टी पड़ी हो तो संन्यासी कभी उसे पैर स उल्टाकर नहीं देखेगा। फिर संन्यासी के पास रुपया-पैसा होना बहुत खराब है। ऐसी कोई चीज नहीं जो पैसा न कर सके, यहाँ तक कि प्राण नाश तक भी। पुरी में एक साधु समुद्र के किनारे रहता था। उसके पास कुछ रुपया था। यह खबर मिलने पर उसके दो चेलों ने लोभ को न

सम्हाल पा, साधु की हत्या कर दी और रुपया लेकर चलते बने ।"

एक दिन माँ सबेरे ९-१० बजे बैठी हुईं शरीर में तेल मल रही थीं । उस समय एक महिला ने झाड़ू लगाकर झाड़ू को एक किनारे में फेंक दिया । माँ ने यह देखकर कहा, "यह क्याजी, काम हो गया और उसे ऐसे ही अनादर के साथ फेंक दिया ? फेंककर रखने में जितना समय लगा, धीरे से रखने में उतना ही समय लगता । साधारण सी वस्तु है इसलिए क्या उसके प्रति तुच्छता का भाव रखना चाहिए । तुम जिसकी देखभाल करोगी वह भी तुम्हारी देखभाल करेगा । क्या उसकी फिर जरूरत नहीं पड़ेगी ? फिर इस संसार का वह भी तो एक अंग है । इस दृष्टि से भी उसकी इज्जत होनी चाहिए । जिसका जो सम्मान है वह उसे मिलना चाहिए । झाड़ू को भी सम्मान के साथ रखना चाहिए । सामान्य कार्य भी श्रद्धा के साथ करना चाहिए ।"

एक दिन राधू की प्रिय बिल्ली आँगन के किनारे सोई हुई थी । एक महिला खड़ी हुई पैर से उसे सहलाने लगी । क्रमशः उसने उसके सिर पर पैर रखा । यह देखकर माँ ने कहा, "अरी माँ, यह क्या कर रही हो ? सिर तो गुरु का स्थान है; सिर पर क्या पैर रखना चाहिए ? उसे नमस्कार करो ।" वह महिला बोली, "माँ, यह तो मुझे कभी मालूम नहीं था, आज ही मालूम हुआ ।"

सबेरे कलकत्ते से कई भक्त आये हुए हैं, बड़े चुस्त दुरुस्त हैं । कपड़े लत्तों की प्रचुरता है । माँ के लिए फल आदि अनेक चीजें लाये हैं । माँ शाम के समय स्वतः कहने लगीं, "सबने जला डाला । और सहा नहीं जाता । कुछ

लड़के ऐसे आते हैं, मेरा संसार शान्ति से भर जाता है। नहीं मालूम कहाँ से सब्जी, सामान आदि की व्यवस्था हो जाती है। मुझे कोई सोच-विचार नहीं करना पड़ता। जैसा जो बना चुपचाप खाकर पत्तल उठाकर उठ जाते हैं। अहा! उनके मुख की वाणी भी ऐसी होती है कि प्राणों को शीतल कर देती है और यह देखो, सबेरे से कैसी दौड़ धूप है। ढेर सा फल लेकर आये हैं, उसमें से आधे सड़कर नष्ट हो गये हैं। उसे कहाँ फेंकूँ समझ नहीं पा रही हूँ। इधर कपड़े लत्ते सब झकझक करते हुए और कहते हैं, 'गमछा लाना भूल गये।' अब मैं गमछा कहाँ से लाऊँ? उस समय तो एक देख सुन कर दे दिया। अब चिन्ता यह है कि रात में क्या सब्जी बनाऊँ? फिर सुनती हूँ—मच्छरदानी की डोरी नहीं है। हरि डोरी की खोज में घूम रहा है। ठाकुर, अपना संसार अब खुद सम्भालो। मैं तो अब सम्भाल नहीं पा रही हूँ। एक ओर राधी है और दूसरी ओर यह सब!" भक्तों में से कोई कोई माँ को कितना परेशान करते थे इस विषय में दो—एक घटना का स्मरण हो रहा है।

माँ तब जयरामवाटी में थीं। संध्या के थोड़े पूर्व मैं श्याम बाजार से लौटकर देखता हूँ, माँ बरामदे में एक चटाई बिछाकर सोयी हैं। मेरे पहुँचते ही वे विरक्ति प्रकाश कर कहने लगीं, "तुम लोग तो यहाँ हो, पर बीच बीच में कामकाज को लेकर बाहर भी जाना पड़ता है। आज र——के साथ एक आदमी आया था बूढ़ा! उसे दूर से देखकर मैं कमरे के भीतर जाकर चौकी में बैठ गयी। उसने बाहर से प्रणाम तो किया, पर पैरों की धूल लेने की जिद करने लगा। मैं जितना संकोच करती, ना ना करती

वह किसी तरह छोड़ने को तैयार नहीं । अन्त में जोर करके उसने पैरों की धूल ले ही ली । उस समय से असह्य जलन और पेट के दर्द से मरी जा रही हूँ । तीन चार बार पैरों को धोया फिर भी जलन नहीं जाती है। तुम लोग पास रहने मे मेरा इशारा समझ कर उसे रोक सकते थे । कलकत्ते में वे लोग भक्तों के साथ जो कड़ा व्यवहार करते हैं वैसा न करने से भी नहीं चलता । कितने प्रकार के लोग आते हैं, तुम लोग लड़के हो, समझ नहीं पाते ।"

बाहर का काम-काज पूरा करके मैं संध्या के समय माँ के पास पहुँचा । माँ कहने लगीं, "आज शाम को बि-पुलिस के एक बड़े कर्मचारी को मेरे पास लाया था । उसका कैसा स्वभाव—मूँछों पर ताव देता आया और प्रणाम करके पैरों की धूल लेना चाहा । मैंने अपने को समेट लिया और किसी प्रकार भी पैरों की धूल देना स्वीकार नहीं किया । उसका कैसा चंचल स्वभाव । इसके बावजूद बि—मेरे सामने उसे सुना-सुनाकर उसकी प्रशंसा किये जा रहा था । इधर मैं बड़े सोच में पड़ी थी कि उसका किस प्रकार सत्कार करना होगा । अन्त में थोड़ा सा हलुआ बनाकर उसे बैठकखाने में भिजवा दिया ।"

एक दिन 'उद्बोधन' में माँ पूजा समाप्त करके उठी थीं कि एक भक्त कुछ फूल लेकर माँ के दर्शन को आया । माँ तो अपरिचित भक्त को देखकर पूरे शरीर को चादर से ढँककर तख्त में पैर झुलाकर बैठ गयीं । भक्त ने माँ के पैरों में फूल चढाकर प्रणाम किया और सामने आसन में सीधे बैठकर ध्यान और दीर्घ प्राणायाम करना प्रारम्भ कर दिया । घर के सभी लोग कामों में व्यस्त थे, माँ के पास कोई नहीं था। बैठे-बैठे माँ का सम्पूर्ण शरीर पसीने से तर-बतर हो गया।

भक्त को माँ की पूजा करते देख गोलाप माँ काम से कहीं चली गयी थीं। बड़ी देर बाद लौटकर जब उन्होंने उस व्यक्ति को उस प्रकार बैठे देखा तो वे सारी बातें समझ गयीं। उन्होंने उसका हाथ पकड़कर उठाते हुए अपने स्वाभाविक उच्च स्वर में कहा, "इन्हें क्या लकड़ी का देवता समझ रखा है जो इन्हें न्यास, प्राणायाम के द्वारा चैतन्य करोगे? जरा भी बुद्धि नहीं कि माँ पसीने से भींग गयी हैं?"

एक बार एक भक्त ने माँ को प्रणाम करते समय उनके पैर के अँगूठे पर जोरों से अपने सिर को पटक दिया। माँ पीड़ा से कराह उठीं। उनके पास में जो थे उन्होंने उस व्यक्ति से पूछा, "यह क्या किया?" तब भक्त ने उत्तर दिया, "माँ के पैर में सिर पटककर उन्हें दर्द दे दिया है। जितने दिन यह दर्द बना रहेगा उतने दिन माँ मुझे याद करेंगी।"

पूर्वोक्त दोनों घटनाओं को माँ ने कई बार हम लोगों को हँसते-हँसते सुनाया था। (क्रमशः)

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(भगवान श्रीरामकृष्ण के एक प्रमुख शिष्य स्वामी तुरीयानन्द को भी अमेरिका में अपने वेदान्त-प्रचार में सहायता करने को स्वामी विवेकानन्द अमेरिका ले गये थे। वहाँ से लौटने के बाद उन्होंने अपना अधिकांश जीवन तपस्या में ही बिताया। बंगला और अंग्रेजी में उनके लगभग ३०० पत्र उपलब्ध हैं, जो बड़े ही ज्ञानगर्भित प्रेरणादायी तथा साधकोपयोगी हैं। उन्हीं में से चुने हुए अंशों के अनुवाद यहाँ क्रमश: प्रकाशित किये जा रहे हैं।–सं.)

– २८ –

मनुष्य यंत्रमात्र है, प्रभु ही चालक हैं। धन्य है वह व्यक्ति जिसके द्वारा वे अपना कार्य करा लेते हैं। इस संसार में सभी को कर्म करना पड़ता है, बिना किये कोई रह नहीं सकता; परन्तु जो अपने स्वार्थ-साधन के हेतु कर्म करता है, उसके कर्म उसे पाशों से मुक्त न कर बन्धन की ही सृष्टि करते हैं। और कुशल व्यक्ति ईश्वर के लिए कर्म करके अपना कर्मपाश छिन्न कर डालता है। वे ही कर्ता हैं, मैं नहीं––यह बोध पाश को छिन्न करता है। और यही परम सत्य है। 'मैं कर्ता हूँ'––ऐसा अनुभव भ्रममात्र है। क्योंकि 'मैं' को ढूंढ़ निकालना बड़ा कठिन है। 'मैं कौन हूँ'––इस पर विचार करने स सच्चा मैं उन्हीं (ईश्वर) में लीन हो जाता है। देह, मन, बुद्धि––इन सब में 'मैं' का बोध अविद्या-कल्पित भ्रान्तिमात्र है। अन्त तक क्या बच रहता है? विचार करने पर कुछ भी तो नहीं टिकता। सब कुछ चला जाता है––केवल एक सत्ता मात्र रह जाती है, जिससे सब निकले हैं, जिसमें सब स्थित हैं और अन्ततः जिसमें सब विलीन हो जाते हैं। वह सत्ता ही, अखण्ड-सच्चिदानन्द ब्रह्म, अहंप्रत्ययसाक्षी और फिर सृष्टि-स्थिति-प्रलयकारी होकर भी निर्लिप्त विभु है। उन्हीं के आश्रय से, उनकी शक्ति के द्वारा यह जगद्यंत्र परिचालित

हो रहा है । लीलामय अपनी लीला देखकर आनन्द ले रहे हैं । जिसे वे समझा रहे हैं, वही यह बात समझ रहा है । बाकी लोग समझकर भी नहीं समझते—स्वयं को उनसे भिन्न सोचकर मुग्ध हो रहे हैं । यही उनकी माया है । उनके शरणागत होकर कर्म करने से यह माया चली जाती है । करनेवाला समझता है कि वह कर्ता नहीं, यंत्रमात्र है। इसी को कहते हैं—अकर्तानुभूति, करते हुए भी न करना और यही जीवन्मुक्ति है । इस जीवन्मुक्ति के सुख का भोग करने के लिए ही आत्मा ने देहधारण किया है; अन्यथा नित्यमुक्त आत्मा का सांसारिक विषयों की कामना से देहधारण करना किसी प्रकार भी संगत नहीं लगता । इस शरीर में रहकर भी अदेह-बोध की उपलब्धि करना ही मानव जीवन का चरम उद्देश्य है । इसे प्राप्त करके ही मनुष्य कृतार्थ हो जाता है । प्रभु से मेरी हार्दिक प्रार्थना है कि उनकी कृपा से इसी जन्म में हमें जीवन्मुक्ति का सुख प्राप्त हो जाय । यही जीवन हमारा अन्तिम बार देह धारण हो,अर्थात् पुनः अपने स्वार्थसाधन हेतु जन्म न लेना पड़े । हमारा जीवन उन्हीं के लिए है, अन्य किसी उपलब्धि के लिए नहीं—यह धारणा, विश्वास तथा अनुभूति इसी जन्म में सुदृढ़ हो जाय । प्रभु हम पर प्रसन्न हों ।

— २९ —

हम लोगों का जो होना था हो चुका, मेरी बड़ी इच्छा होती है कि अब तुम लोग उठो और माँ की कृपा से उनका कार्य करके धन्य हो जाओ । स्वामीजी की 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च'*—यह वाणी सार्थक हो । तुम्हारा

* 'अपनी मुक्ति तथा जगत् के कल्याण हेतु ।'

मन इस समय बड़ा अच्छा है और तुम्हारा संकल्प दृढ़ हुआ है, यह जानकर अतीव आनन्द हुआ। यही तो चाहिए। सत्कार्य में जीवनदान---इससे बढ़कर और क्या है---'सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति'†---यह क्या जीवन में रूपायित न होकर केवल पुस्तकों में ही निबद्ध रह जायगा ? तुमने ठीक किया है। सब कुछ समझ-बूझकर भी यदि तुम लोग ऐसा न करो तो तुम्हारी सारी विद्या अविद्यामात्र सिद्ध होगी। दुर्बलता को बिल्कुल भी निकट न आने देना। प्रभु की कृपा से उनका तथा स्वामीजी का दृष्टान्त सामने रखकर निर्भय बढ़े चलो, कोई चिन्ता नहीं---माँ स्वयं तुम्हारी रक्षा करेंगी; और वे तो सदा ही तुम्हारी रक्षा किये आ रही हैं, थोड़ा सोचने से ही इसे भलीभाँति समझ सकोगे। वे यदि धरे न रखतीं, रक्षा न करतीं, तो क्या तुम इतने दिन बच पाते ? कभी नहीं। माँ स्वयं ही तो पथ को प्रशस्त कर तुम्हें अपनी ओर ले आयी हैं, अतः भय कैसा ? अब माँ के पास चले चलो। उनके साथ अपना सम्बन्ध खूब पक्का कर लो। एक बार बाकी सब से नाता तोड़ने का निश्चय करो; उसके बाद माँ ही कृपा करके दिखा देंगी कि उनके सिवाय और कुछ भी नहीं है। 'घट घट रमता राम रमैया'---माँ ही सभी घटों में विराज रही हैं। वे दिखा देंगी---'ब्रह्ममयी ही सब घटों में हैं और गया, गंगा, काशी आदि सब उन्हीं के

† धनानि जीवितं चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत् ।
सन्निमित्ते वरं त्यागो पवनाशे नियते सति ।। (हितोपदेश)
—प्रज्ञावान व्यक्ति को परहित के लिए अपना धन तथा प्राण तक त्याग देना चाहिए। जब मृत्यु अवश्यम्भावी है, तो सत्कार्य के लिए प्राण त्यागना ही श्रेयस्कर है।

चरणों में है ।' इतना हुआ कि बस हो गया । तब सम्पूर्ण ममत्व-बोध तिरोहित होकर सब कुछ माँ-मय बोध होगा ।

जैसा तुमने लिखा है जो उनकी ओर ले जाते हैं, उनके लोग हैं, उन्हीं को अपना मानकर आनन्द मनाना होगा । और जो हमें उनसे दूर ले जाना चाहते हैं, उन लोगों से दूर रहना होगा । अब और कोई सम्बन्ध नहीं, केवल माँ के माध्यम से ही सम्बन्ध होगा । अब तो, 'समझ गया हूँ सार हृदय में, मैं माँ का हूँ माँ मेरी है'—चाहे जैसे भी हो इसी भाव को दृढ़ करना होगा । इसके लिए यदि निज हाथ से अपना हृत्पिण्ड भी निकाल डालना पड़े, तो उसे भी स्वीकार करना होगा । तुम स्वयं ही बुद्धिमान हो, तुम्हें और क्या कहूँ ! माँ ही सब बता देंगी ।. . .प्रभु से मैं सच्चे हृदय से प्रार्थना करता हूँ कि वे तुम्हारी मनोकामना सिद्ध करें । अधिक और क्या कहूँ—'मैं प्रभु की सन्तान हूँ, प्रभु का दास हूँ'—इस भाव में तन्मय हो जाना ही चरम और परम उपलब्धि है ।

प्रभु अपना कार्य स्वयं ही करते रहे हैं, अन्य लोग निमित्त मात्र हैं । धन्य है वे लोग जो ठीक-ठीक यंत्र स्वरूप होकर उनके कार्य में लगे रहते हैं ।

विवेकानन्द जयन्ती समारोह
रायपुर, १९९२ ई.

—: कार्यक्रम :—

* * *

रविवार, 12 जनवरी — **प्रातःकाल 9 बजे**

राष्ट्रीय युवा दिवस

(रविशंकर विश्वविद्यालय परिसर में)

शोभायात्रा जनसभा एवं

स्वामी विवेकानन्द के प्रति युवाशक्ति की श्रद्धांजलियाँ

* * *

सोमवार, 13 जनवरी — **सायंकाल 6 बजे**

अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय : "स्वामी विवेकानन्द का जीवन-दर्शन"

* * *

मंगलवार, 14 जनवरी — **सायंकाल 6 बजे**

अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

बुधवार, 15 जनवरी **सायंकाल 6 बजे**

अन्तर्महाविद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय : "इस सदन की राय में शासन की धर्म-निरपेक्षता की नीति राष्ट्रीय एकता के निर्माण में असफल रही है।"

* * *

गुरुवार, 16 जनवरी **सायंकाल 6 बजे**

अन्तर्विद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय : "इस सदन की राय में राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान में हिंसा की अपेक्षा अहिंसा कहीं अधिक कारगर है।"

* * *

शुक्रवार, 17 जनवरी **सायंकाल 6 बजे**

अन्तर्विद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

* * *

शनिवार, 18 जनवरी, **सायंकाल 6 बजे**

अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय : "मेरे जीवन-आदर्श स्वामी विवेकानन्द"

रविवार, 19 जनवरी **सायंकाल 6 बजे**

अन्तर्माध्यमिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय : "स्वामी विवेकानन्द मुझे प्रिय क्यों हैं ?"

• • •

सोमवार, 20 जनवरी **सायंकाल 6 बजे**

अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय : "इस सदन की राय में धन की अपेक्षा विद्या कहीं अधिक श्रेष्ठ है ।"

* * *

मंगलवार, 21 जनवरी **सायंकाल 6 बजे**

अन्तःप्राथमिक शाला पाठ-आवृत्ति प्रतियोगिता

(रनिंग कप)

* * *

22 से 25 जनवरी तक **प्रतिदिन सायंकाल 7 बजे**

आध्यात्मिक प्रवचन

प्रवचनकार : स्वामी राजेश्वरानन्दजी सरस्वती

(श्री राजेश रामायणी)

* * *

रविवार, 26 जनवरी

स्वामी विवेकानन्द जन्म-तिथि उत्सव

मंगल आरती, प्रातर्वन्दना और ध्यान . . प्रातः ५। से ७

विशेष पूजा, भजन, हवन, आरती . . . प्रातः ७।। से १२

सान्ध्य आरती, प्रार्थना, भजन . . . सायं ६ से ७ बजे तक

उसी दिन | सायंकाल 7 बजे

विवेकानन्द जयन्ती समारोह उद्घाटन

विषय : "धर्मविग्रह भगवान श्रीरामकृष्ण"

मुख्य अतिथि : पं. रामकिंकरजी उपाध्याय

* * *

27 जनवरी से 6 फरवरी तक | प्रतिदिन सायंकाल 7 बजे

रामायण प्रवचन

प्रवचनकार : पं. रामकिंकरजी उपाध्याय

श्रीरामकृष्णदेव का १५७ वाँ जयन्ती महोत्सव

* * *

जन्मतिथि पूजा | शुक्रवार, 6 मार्च 1992

(मन्दिर में कार्यक्रम)

मंगल आरती, वन्दना और ध्यान . . . प्रात: ५। से ७ बजे

विशेष पूजा, भजन, हवन, आरती . . प्रात: ७।। से १२ बजे

सान्ध्य आरती, प्रार्थना, भजन . . . . सायं ७ से ८।। बजे

* * *

जन्मोत्सव सार्वजनिक सभा

(सत्संग भवन में)

रविवार, 8 मार्च | सायंकाल 5 बजे

○